प्रकाशक

हीरालाल लूणिया

कलकत्ता-७

प्राप्तिस्थान

(१) हीरालाल लूणिया

पी-५ कलाकार स्ट्रीट

कलकत्ता-७

(२) परीचन्दजी बोथरा

३ डोमर रोड

कलकत्ता-१९

(३) श्री मोहनलालजी पारसान

१९C आशुतोष मुखर्जी रोड

कलकत्ता-२०

वीर सवत् २५०३

मूल्य २)

मुद्रक :

मा प्रिन्टर्स

२-सी, इमाम वक्स लेन

कलकत्ता-६

दो शब्द

जैन धर्म विश्वधर्म आत्म धर्म है। उसका आश्रय पाकर केवल मानव ही नहीं पर पशु-पक्षी तक ने आत्मोत्कर्ष किया है और कर सकते हैं। हमने पूर्व पुण्य प्राग्भार से इसे प्राप्त तो किया परन्तु इसके प्रचार प्रसार में योगदान नहीं देते हैं तो तीर्थंकरों की "सविजीव करू शासन रसी" भाव दया के आदर्श से दूर रहकर अपने आत्मोत्कर्ष से भी वञ्चित रहते हैं। दूसरों में प्रचार तो दूर रहा हम अपनी ही भावी पीढ़ी को अन्धकार मे रखकर उन्हें धर्म-संस्कारों से वञ्चित रखकर उनका भविष्य अन्धकारमय बना रहे हैं। आधुनिक शिक्षा के साथ धर्म का ताल-मेल नहीं है अतः यदि हम जीवित रहना चाहते हैं शाश्वत धर्म को जयवंत रखना चाहते हैं तो हमे धार्मिक ज्ञान के प्रचार की ओर अग्रसर होना अनिवार्य है। अवकाश के समय लगने वाले शिविरों की उपयोगिता इसीलिये मानी जाने लगी और "आवश्यकता आविष्कार की जननी है" सिद्धान्त के अनुसार प्रस्तुत "जैनधर्म प्रवेशिका" पुस्तिका का निर्माण हुआ है। इसकी लेखिका हैं विदुषी आर्यारत्न श्री हेमप्रभाश्रीजी महाराज। आपने आधुनिक उच्च शिक्षा प्राप्त तो की ही है, बाल्यकाल में संयम-मार्ग की पथिक बनकर जैनागमों का परिशीलन कर अपनी मधुर प्रवचन शैली द्वारा जिन-वाणी का प्रचार कर "स्वहित व परहित साधयतीति साधु" वाक्य को सार्थक कर रही हैं।

गत वर्ष बीकानेर चातुर्मास में धार्मिक शिविर लगा और श्री हीरालाल जी लूणिया की सतत प्रेरणा से इस पुस्तिका का त्वरित लेखन कार्य सपन्न हुआ। वे इसे शीघ्र प्रकाशित कर जनता के करकमलों मे पहुँचा देना चाहते थे अतः इसकी प्रस्तावना श्री अगरचन्दजी नाहटा से लिखवा कर ले आये और प्रवर्तिनीजी महाराज श्री विचक्षणश्रीजी की प्रेरणा पाकर प्रथमावृत्ति मे ही ४४०० पुस्तकें छपाने की तैयारी बताई।

आपने ही अदम्य उत्साह से इस पुण्य कार्य मे अन्य स्वधर्मी बन्धुओं को सहयोगी बनाया जिनकी शुभ नामावली इस पुस्तिका मे सधन्यवाद दे रहे हैं।

सुप्रसिद्ध चित्रकार श्री इन्द्रदूगड़ द्वारा चित्रित ज्ञान दर्शन चारित्र का प्रतीक चित्र प्रस्तुत पुस्तक के आवरण मे देने से इसकी शोभा बढ़ गई है।

इस ग्रन्थ की लेखिका श्री हेमप्रभाश्रीजी का जन्म सं० २००० मिती श्रावण शुक्ला १० को हुआ। परमपूज्या साध्वीजी म० श्री अनुभवश्रीजी आपके संसार पक्ष मे पिताजी की भूआजी होती हैं। आपकी माताजी ने आपकी दीक्षा के अनंतर थोडे दिन बाद दीक्षा ली तथा बड़ी बहिन १० वर्ष पूर्व ही संयम मार्ग की पथिक बनी। इस प्रकार कई चारित्रात्माओं की खान आपका कुटुम्ब है। आपकी दीक्षा १२ वर्ष की अवस्था मे सं० २०१२ मिती वैशाख शुक्ला ७ को पाली मैं हुई। पांच वर्ष की अल्पायु मे गुरुवर्या श्री अनुभवश्रीजी के सत्संग से वैराग्य बीज पल्लवित हो गया। आपका दीक्षोत्सव अभूतपूर्व समारोह के साथ हुआ और आचार्य प्रवर श्री विजयनंदनसूरीश्वरजी के सानिध्य मे उन्हीं के प्रेषित पण्डित द्वारा अध्ययन हुआ। स० २०३३ का चातुर्मास बीकानेर मे हुआ, जिसमे २१ दिन व्यापी शिविर का आयोजन हुआ और आचार्यदेव श्री इन्द्रदिन्नसूरिजी के व्याख्यान के साथ ही आपका प्रवचन पोषधशाला मे होता। उनके पधारने के पश्चात् सुगनजी महाराज के उपाश्रय व श्री जिनकृपाचन्द्रसूरि उपाश्रय मे प्रवचन होता जिसमे सभी गच्छ के श्रोताओं की उपस्थिति अच्छी रहती।

इसमे आपका चित्र देने की प्रबलतम भावना होने पर भी आपकी इच्छा न होने से अपनी मनोभावना को संवरण करना पड़ा है। आशा है पाठकगण आपकी वाणी-शेखर चित्र से जैन धर्म का समुचित ज्ञान प्राप्तकर इस ज्ञान यज्ञ के सभी आयोजकों का परिश्रम सफल करेंगे।

भँवरलाल नाहटा

भूमिका

उत्तराध्ययन सूत्र एवं महाभारत में विश्व के समस्त प्राणियों में मानव को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। क्योंकि अन्य कोई भी प्राणी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। मनुष्य गति ही मोक्ष का द्वार है और जीवन का उच्चतम और अंतिम लक्ष्य मोक्ष ही है। अनादिकाल से यह जीव कर्मों के बंधन में जकड़ा हुआ है फलतः अनेक प्रकार के सांसारिक दुःख-सुख का अनुभव करता आ रहा है वह वास्तविक और आत्मिक आनन्द तथा चिर-शांति मुक्त हुए बिना प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है कि जब उसने मोक्ष का द्वार प्राप्तकर लिया है तो उसमे प्रवेश करके सदा के लिए कर्म-बंधन से मुक्त हो जाय।

जैन धर्म मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्ष-मार्ग बतलाया गया है। इन तीनों की समान रूप से उपयोगिता है और तीनों की प्राप्ति से ही मोक्ष मिल सकता है। इसलिए ज्ञानदर्शन और चारित्रको सम्यक् रूप से जानकर उसे जीवन मे अपनाने की पूर्ण आवश्यकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे बहुत ही संक्षेप में इन तीनों मोक्ष मार्गों पर प्रकाश डाला गया है। विशेषतः कर्मों का बंधन क्यों और कैसे होता है और कर्मों से मुक्ति कैसे मिल सकती है इस प्रसंग से अनेकों ऐसी बातों की जानकारी दे दी गई है, जिसे जैन तत्वज्ञान और आचार का संक्षिप्त सार कहा जा सकता है।

वैसे तो इस विषय के बहुत से बड़े-बड़े ग्रंथ अनेकों विद्वानों के लिखे प्रकाशित हो चुके है पर इस ग्रंथ की अपनी उपयोगिता है क्योंकि बड़े-बड़े ग्रंथों को पढ़ने एवं समझने का अवकाश सभी को मिल नहीं पाता अतः प्राथमिक और आवश्यक जानकारी सरल भाषा में और संक्षेप में

बालक-बालिकाओं युवाओं और जिज्ञासुओं को मिल सके इसलिए इस पुस्तक को तैयार किया गया है।

शिक्षा का प्रचार तो इन दिनों खूब बढ़ा है। विद्यालयों और छात्र-छात्राओं की संख्या मे अतिशय वृद्धि हुई है। व्यवहारिक ज्ञान के लिए उनकी उपियोगिता है ही पर मनुष्य को आत्मिक ज्ञान भी प्राप्त करना है, जिससे वह मोक्ष मार्ग मे अग्रसर हो सके एव साथ ही नैतिक और सदाचारी जीवन बिताते हुए जीवन स्तर को ऊँचा उठा सके। खेद है वर्तमान शिक्षा मे धार्मिक शिक्षा की बड़ी कमी पायी जाती है। अतः इसकी आंशिक पूर्ति धार्मिक शिक्षण शिविरों आदि के द्वारा की जानी बहुत ही आवश्यक है, जिससे जीवन सुसंस्कारित और आध्यात्मिक बन सके और मानव जीवन की सार्थकता सिद्ध हो सके।

विदुषी साध्वीजी श्री हेमप्रभाश्रीजी के बीकानेर पधारने पर उनकी प्रेरणा से धार्मिक शिक्षण शिविर का आयोजन किया गया जिसमे बालक-बालिकाओं ने २१ दिनों तक धार्मिक शिक्षा प्राप्त की। इस शिविर मे पूज्या साध्वी जी ने काफी समय और श्रम लगाकर श्री मुकुन्दचन्द्रजी कोचर, शिखरचन्द्रजी कोचर, श्री उदय नागोरी आदि के सहयोग से थोड़े समय मे अधिकाधिक जैन तत्वज्ञान व आचार की शिक्षा दी। उसे स्थायित्व देने के लिए श्री हीरालालजी लुणिया आदि की प्रेरणा से प्रस्तुत ग्रन्थ का संकलन किया गया है। इसे तैयार करने में साध्वीजी ने जो परिश्रम किया एवं उदय नागोरी ने जो सहयोग दिया वह सराहनीय है इस ग्रन्थ लेखन का मुख्यतया यही लक्ष्य है कि जैन संबन्धी प्राथमिक और आवश्यक ज्ञान सभी को मिल सके। भविष्य मे जहाँ भी एवं जब भी धार्मिक शिक्षण शिविर लगे तो उसमें पढाने योग्य ग्रन्थ की कमी पूरी हो सके। जो लोग शिविर मे नहीं भाग ले सके, वे भी इससे लाभ उठावें और जो शिविर में बैठे हैं वे भी अपनी ज्ञान की वृद्धि करते हुए उन्नतर जीवन जीने की प्रेरणा प्राप्त करते रहें।

इस ग्रन्थ में पहले सम्यग् दर्शन की जानकारी देते हुए आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व के प्रमाण स्वरूप मूल ११ बातें लिखी गई है, ये बहुत ही पठनीय और उपयोगी हैं। फिर सम्यग् ज्ञान के विवरण में नवतत्व और कर्मवाद पर प्रकाश डाला गया है वह काफी ज्ञानवर्द्धक है। उसके बाद सम्यक् चारित्र के प्रकरण मे श्रावक धर्म पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सम्यक् दर्शन के अन्तर्गत देव, गुरु, धर्म इन तीनों तत्वों पर प्रकाश डालते हुए देव दर्शन और जिन प्रतिमा की पूजा की विधि भी बतला दी गई है। इस तरह बहुत सी आवश्यकीय बातों की जानकारी इस छोटे से ग्रन्थ मे देकर इसकी उपयोगिता बढ़ा दी गई है। वैसे यह प्राथमिक पुस्तक ही है अतः इसके बाद अपने ज्ञान को अधिकाधिक बढ़ाने के लिये अन्य ग्रन्थों को भी पढ़ के लाभ उठाते रहना चाहिये।

जैन धर्म और वैदिक धर्म में 'स्वाध्याय' को बहुत महत्व दिया गया है केवल दूसरी बातों और विषयों का अध्ययन कर लेना ही काफी नहीं है, जबतक स्व अर्थात आत्मा का ज्ञान प्राप्त नहीं किया जाय। इसलिए स्वाध्याय में प्रमाद न करते हुये निरन्तर अग्रसर होते रहना बहुत ही आवश्यक है। इस ग्रन्थ से स्वाध्याय की प्रेरणा प्राप्तकर जिज्ञासुगण आध्यात्मिक उत्थान करते रहें, यही शुभ कामना है, और इसी मे इस ग्रन्थ की लेखिका और प्रकाशक के प्रयास की सार्थकता होगी।

बीकानेर

१७ अक्टूबर १९७६ — अगरचन्द नाहटा

पुस्तक प्रकाशन ज्ञान यज्ञ के अग्रिम सहयोगी

१००१ श्री हीरालाल जतनलाल लूणिया, कलकत्ता

१००१ श्री परीचन्दजी श्रीचन्दजी बोथरा, कलकत्ता

५०१ ,, मोहनलालजी पारसान, कलकत्ता

२५१ ,, पेमचन्दजी दुगड़, कलकत्ता

२५१ ,, नेमिचन्द जी बरढिया, बीकानेर

२०१ ,, पेमचन्दजी रामलालजी सेठिया, बीकानेर

१०१ ,, माणकचन्दजी वेगानी, बीकानेर

१०१ ,, पूनमचन्दजी वासुदेवजी सेठी (मुलतानवाले) बीकानेर

१२५ ,, सूरजमल जी बांठिया, बीकानेर

१०१ ,, टीकमचन्दजी मन्नुलालजी पारख, कलकत्ता

१०१ ,, जतनमलजी माणकचन्दजी सेठिया, कलकत्ता

१०१ ,, लालचदजी ज्ञानचंदजी लूणावत, कलकत्ता

१०१ ,, दीपचन्दजी प्रकाशचन्दजी डागा, कलकत्ता,

श्री जैन धर्म प्रवेशिका

जैनधर्म एवं संस्कृति

हिन्दू शब्द जैसे एक जाति का वाचक है, बौद्ध शब्द जैसे व्यक्ति का वाचक है वैसे जैन शब्द किसी जाति या व्यक्ति का वाचक नहीं है किन्तु एक विशेष गुण का वाचक है 'जैन' शब्द मे विशालता है। उदात्तता है।

'जिन' का अर्थ है जीतनेवाला। किसको जीतनेवाला? शत्रु को जीतनेवाला। राग-द्वेष ही आत्मा के सच्चे शत्रु हैं, और उनको जीतना ही आत्मा की सच्ची जीत है। अत' राग द्वेष को जीतनेवाला ही 'जिन' है। जो जिन का अनुयायी है, उनकी शिक्षाओं के अनुसार चलता है वह 'जैन' है और जिन का जो उपदेश है, वही जैनधर्म है।

'जैन' का एक लाक्षणिक अर्थ यह भी होता है कि 'जन' कहते हैं मनुष्य को। और जब 'जिन' पर सद्विचार और सदाचार की दो मात्रायें लग जाती हैं तो वह जैन कहलाने का अधिकारी हो जाता है। यह परिभाषा भी जैनधर्म के गुणात्मक रूप को व्यक्त करती है।

जैनधर्म की उत्पति कब से हुई? यह प्रश्न विद्वत्समाज मे बहु चर्चित रहा है। इस विषयमे विद्वानों मे बहुत कुछ मतभेद रहा है। स्वामी दयानन्द वगैरह कई विद्वान जैनधर्म को एक स्वतन्त्र धर्म न मान कर बौद्ध धर्म की शाखा ही मानते हैं। कुछ विद्वान जैनधर्म को स्वतन्त्र धम मानते हुए भी उसके संस्थापक के रूप मे भगवान महावीर को मानते हैं। कुछ विद्वान भगवान् पार्श्व को ही जैन धर्म का आद्य प्रवर्तक मानते हैं। किन्तु यह उनकी अनभिज्ञता है। वैचारिक

दृष्टिकोण से हम देखते है कि जैनधर्म, विकारों के विजय का या आत्मशुद्धि का धर्म है। जीवन मे विकार और वासनायें तभी से हैं, जब से कि जीवन है। जीवन अनादि है तो विकार और वासनायें भी अनादि हैं जब विकार और वासनायें अनादि हैं तो उन्हें विजय का प्रयत्न आदि कैसे हो सकता है। रोग अनादि है तो उसकी चिकित्सा भी अनादि है। जब विकार रोग हैं तो उनकी विजय का प्रयत्न रूप 'जैनधर्म' भी अनादि ही है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो भी जैनधर्म अतिप्राचीन सिद्ध होता है।

'जैनधर्म' को बौद्धधर्म की शाखा मानना तो भूल भरा है क्योंकि बौद्धसाहित्य का अध्ययन करने से यह तो एकदम स्पष्ट हो जाता है कि बुद्ध के समय मे जैनधर्म का खूब प्रचार-प्रसार था। बौद्ध साहित्य मे जैनचिन्तन का बहुत कुछ अंश मिलता है एव-जैन-पारिभाषिक शब्द; श्रावक, जिन, भिक्षु आदि का भी प्रचुर मात्रा मे प्रयोग मिलता है।

वर्तमान-कालचक्र मे धर्म के आद्य प्रवर्त्तक भगवान् ऋषभदेव का चरित्र, वैष्णवधर्म के महान्ग्रन्थ श्रीमद्भागवत् मे विस्तारपूर्वक वर्णित किया गया है। कहा है कि ऋषभदेव अर्हन् का अवतार रजोगुण से व्याप्त मनुष्यो को मोक्षमार्ग की शिक्षा देने के लिये हुआ।

अयमवतारो रजसोद्भुतकैवल्योपशिक्षणार्थं ।

भागवत स्कंध ५ । अध्याय ६

भारत के प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद मे भी भगवान ऋषभदेव का वर्णन मिलता है।

आदित्या त्वगसि आदित्य सद आसीद ।
अस्तभ्नाद्द्यां वृषभो तरिक्ष जमिमीमीते वरिमाणम् ।
पृथिव्या आसीत विश्वा भुवनानि ।
सम्राड् विश्वे तानि वरुणस्य वचनानि ।

(ऋग्वेद ३० । अध्याय ३)

अर्थ तू पृथ्वीमण्डल का सार त्वचारूप है। पृथ्वीतल का भूषण है दिव्यज्ञान द्वारा आकाश को नापता है। हे ऋषभनाथ! सम्राट! इस संसार में जगरक्षक व्रतों का प्रचार करो।"

शिवपुराण में भी भगवान् ऋषभदेव का वर्णन है।

कैलासे पर्वते रम्ये, वृषभोऽयं जिनेश्वरः।

चकार स्वावतारं च, सर्वज्ञः सर्वगः शिवः॥ ५६॥

विश्व का कल्याण करने वाले सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवान् ऋषभदेव, कैलासपर्वत पर मुक्ति को प्राप्त हुए। यहाँ जिनेश्वर शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि जैन तीर्थंकर। तथा भगवान् ऋषभदेव का मुक्तिस्थान जैन साहित्य में भी कैलास पर्वत ही है।

योगवाशिष्ट में भी कहा है

नाहं रामो न मे वांछा, भावेषु च न मे मनः।

शान्तिमास्थातुमिच्छामि, स्वात्मन्येव जिनो यथा।

यहाँ राम कह रहे हैं कि मैं राम नहीं हूँ, न मुझे किसी वस्तु की ही चाह है। मेरी अभिलाषा तो यही है कि मैं जिनेश्वर देव की तरह अपनी आत्मा में शान्ति प्राप्त करूँ। इससे सिद्ध है कि 'जैनधर्म और जैन तीर्थंकरों का अस्तित्व रामचन्द्रजी से पहिले का है।

यजुर्वेद में २२वें तीर्थंकर 'नेमिनाथ' का वर्णन आता है, जो कि कृष्ण के ताऊ के लड़के थे।

वाजस्यनु प्रभव आवभूवे
मा च विश्व भुवनानि सर्वतः।
स नेमिराजा परियान्ति विद्वान्
प्रजा पुष्टिं वर्धमानो अस्मै स्वाहा।

(अध्याय ६ मन्त्र २५)

अर्थ भावयज्ञको प्रगट करनेवाले, ससार के सब जीवों को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देनेवाले और जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा बलवान् होती हैं, उन सर्वज्ञ नेमिनाथ के लिये आहुति समर्पित है।

जैनधर्म के विषय मे ये दो प्राचीन ग्रन्थो के प्रमाण हुए अब आधुनिक विद्वानों के मन्तव्य भी कुछ विचार लें। अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त जर्मन विद्वान डॉक्टर हर्मन जेकोबी ने लिखा है

जैनधर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है। मेरा विश्वास है कि वह किसी का अनुकरण नही है। इसीलिए प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान एव धर्माचरण के अध्ययन करने वालों के लिये वह बडे महत्त्व की चीज है।

सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता नगेन्द्र वसु ने अपने हिन्दी विश्वकोष मे लिखा है कि

"ऋषभदेव ने ही सभवतः लिपिकौशल का आविर्भाव किया था। ब्रह्म विद्या की शिक्षा के लिए उपयोगी ब्राह्मी-लिपि का प्रचार किया था।"

लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि

महावीरस्वामी जैनधर्म को पुनः प्रकाश मे लाये इस बात को आज २४०० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। बौद्धधर्म की स्थापना के पहिले भी जैनधर्म भारत मे फैला हुआ था, यह बात विश्वास करने योग्य है। चौबीस तीर्थकरो मे महावीरस्वामी अन्तिम तीर्थंकर थे।

इससे भी जैन धर्म की प्राचीनता जानी जाती है।

बगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने कहा है—

"जैनधर्म तब से प्रचलित हुआ है, जब से ससार मे सृष्टि का आरभ हुआ है। मुझे इसमे किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि वह वेदान्त आदि दर्शनों से पूर्व का है।"

सुप्रसिद्ध दार्शनिक डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का कहना है कि

"अपने पूर्व हो गये २३ महर्षि अथवा तीर्थंकरों द्वारा दिये गये उपदेशों की परम्परा वर्धमान ने आगे चलायी। ईस्वी सन् के पूर्व

ऋषभदेव के असख्य उपासक थे। इस तत्त्व को सिद्ध करनेवाले अनेक प्रमाण उपलब्ध है। खास यजुर्वेद मे भी तीर्थंकरों को मान्यता दी गई है। अगणित व युगानुयुग से जैन धर्म चला आ रहा है।"

पूर्वोक्त प्रमाणों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि जैनधर्म, बौद्ध, हिन्दू आदि धर्मों से स्वतन्त्र धर्म है और प्राचीन है।

प्रत्येक कालचक्र मे धर्म के प्रवर्तक २४ तीर्थंकर होते हैं। वर्तमान कालचक्र मे भी भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त २४ तीर्थंकर हुए। भगवान् ऋषभदेव इस कालचक्र मे धर्म के आद्य प्रवर्तक थे। इसीलिए उन्हें आदिनाथ कहा जाता है।

जैनधर्म, मूलत अध्यात्मवादी धर्म है। आत्मा के विकारों को दूरकर, उसे पुन अपने शुद्ध स्वरूप मे लाना यही जैनधर्म का मर्म है। आत्मा से परमात्मा बन जाना यह जैनधर्म की साधना का लक्ष्य है आत्मा अपने शुद्धरूप मे निर्विकार है। जबतक वह कर्मों के आवृत है तभी तक रागी द्वेषी बना रहता है। यदि वह वीतरागता की साधना करे तो स्वय परमात्मा बन जाता है। प्रत्येक आत्मा मे परमात्मा बनने की क्षमता है 'अप्पा परमप्पा'—आत्मा ही परमात्मा है। जैनधर्म का यह मूल उद्घोष है। इसके लिये साधनों का विवेचन भी जैनधर्म करता है।

आत्मशुद्धि के मुख्यसाधन हैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक् चारित्र। आध्यात्मिक विकास के महत्त्वपूर्ण अग होने से इन्हें 'रत्नत्रय' कहा जाता है। रत्नत्रय की साधना ही मोक्षमार्ग है।

जैन सस्कृति:

'सस्कृति' की कई परिभाषायें हैं, किन्तु मैथ्यू आर्नोल्ड ने सस्कृति की बडी व्यापक परिभाषा दी है उसके अनुसार "विश्व के सर्वोच्च कथनों और विचारों का ज्ञान ही 'संस्कृति' है।" सस्कृति विविध माध्यमो धर्म, दर्शन कला आदि के द्वारा, मानवीय आत्मा मन और शरीर के सामूहिक विकास का प्रयत्न करती है। जीवन मे सत्यम्, शिवम् सुन्दरम् सृजन करना संस्कृति का सर्वोच्च लक्ष्य है।

'भारतीय-संस्कृति' ने जीवन के आन्तरिक और बाह्य विकास के के लिये—दयतां, दीयतां और दम्यतां (दया, दान और दमन) ये तीन सूत्र दिये हैं। प्राणी-मात्र के प्रति दया करो, मुक्त भाव से दान दो और अपने मन के विकल्पों का दमन करो। यही भारतीय-सस्कृति का मूल स्वर है।

अपने मूल हार्द के साथ भारतीय संस्कृति दो धाराओं में बही है—ब्राह्मणसस्कृति और श्रमण सस्कृति या जैन संस्कृति। जैनसस्कृति किसी जाति विशेष, वर्ग विशेष या व्यक्ति विशेष की संस्कृति नहीं है। प्रत्युत मानवीय चिन्तन से विकसित-स्व-पर का कल्याण करनेवाली आध्यात्मिक मान्यताओं का बहता हुआ प्रवाह है। इसकी प्रत्येक प्रवृत्ति मे अनाशक्ति अहिंसा और अपरिग्रह का आदर्श दृष्टिगत होता है। राग-द्वेष, कदाग्रह, अंधविश्वास और आडम्बर का जैन-सस्कृति मे कोई स्थान नही है। व्यक्ति कर्मबन्धन से मुक्त हो स्वविकास करने का पुरुषार्थ जगाने का श्रेय जैनसस्कृति को ही है। यही कारण है कि-ब्राह्मणसस्कृति के विपरीत जैनसस्कृति, निवृत्तिवादी, निर्वाणवादी एव मोक्षानुलक्षी है। जैनसंस्कृति मे जो प्रवृत्तिपरकता है वह भी राग-द्वेष की निवृत्ति के लिये है।

साहित्य, सगीत, कला, स्थापत्य आदि के रूप मे जैन संस्कृति का जो रूप है, वह भी बड़ा गौरवपूर्ण है। कला और साहित्य के क्षेत्र मे जैनसस्कृति का योगदान अपूर्व है। किन्तु जैनसस्कृति कला को कला के लिए नहीं अपितु मानसिक एकाग्रता, अन्तर्लीनता, भगवद्भक्ति एव परमात्मस्वरूप के साथ तदाकारता के लिए ही स्वीकारती है संस्कृति के बाह्य स्वरूप का विकास आत्मस्वरूप की पुष्टि के लिये है। यहाँ देह का पोषण पहलवानी के लिये नही किन्तु साधना के लिए है। इसी प्रकार साहित्य, सगीत, कला और स्थापत्य का विकास भी आत्मिक-विकास की दृष्टि से ही मान्य है।

जैनसंस्कृति ने अपनी महत्त्वपूर्ण विशेषताओं के साथ संसार को अनेक महत्त्वपूर्ण देनें दी है। उसमे अहिंसा सबसे बड़ी देन है। विश्व शान्ति के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप मे समझी जानेवाली 'अहिंसा' के विचार को सर्वप्रथम जगत को जैन तीर्थंकरों ने ही दिया था। 'अहिंसा' का शाब्दिक अर्थ है 'न मारना' अर्थात् किसी का वध नहीं करना, किन्तु इसका लाक्षणिक भावार्थ है प्रेम, परोपकार, विश्वबन्धुत्व। जैन अहिंसा का आदर्श है—स्वयं जीओ और दूसरों को जीने दो, दूसरों को जीने मे मदद करो। इतना ही नहीं, अवसर आने पर अपने प्राण देकर भी दूसरों की रक्षा करो। प्राणीमात्र को सुख-सुविधा और आराम पहुँचाना ही अहिंसा का सच्चा आदर्श है।

अहिंसा के सन्दर्भ मे ही जैनसंस्कृति ने 'अपरिग्रह' का सिद्धान्त दिया। जैनसंस्कृति का आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिये, उचित साधनों द्वारा उचित प्रयत्न करें। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख सामग्री का संग्रह करना चोरी है। व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र के बीच लड़ाई का मूल कारण ही अनुचित संग्रहवृत्ति है। छीना-झपटी एवं आपा-धापी की भावना है। पारस्परिक सुख की अपेक्षा रखते हुए ही मानव संसार में शान्ति की स्थापना कर सकता है। इस प्रकार अहिंसा के बीज अपरिग्रह मे है।

इस तरह अहिंसा के प्रचार मे जैनतीर्थंकरों ने स्तुत्य प्रयत्न किये। इनके पीछे महान् आचार्यों ने भी इस शुभ कार्य मे अपना योग दिया। अनेक आचार्यों ने अहिंसा का उपदेश देकर बड़े-बड़े राजाओं बादशाहों एवं सम्राटों को जैनधर्म मे दीक्षित किया। जन-साधारण मे अहिंसात्मक आचार-विचार का प्रचार एवं प्रसार किया। राज पुरुषों के द्वारा हिंसा के विरुद्ध आदेश निकलवाये। इस सम्बन्ध मे कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्रसूरिजी, अकबर प्रतिबोधक जिनचन्द्रसूरिजी आदि का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य हेमचन्द्रसूरिजी के उपदेश से राजा कुमारपाल ने अहिंसा की भावना को इतना पुष्ट किया कि इतिहास

मे उसका कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिल सकता। कुमारपाल की 'अमारिघोषण, तो मानव-मात्र को युग-युग तक दिशाबोध कराती रहेगी। आचार्य जिनचन्द्रसूरिजी का भी प्रयत्न महान् था। मुगल बादशाह अकबर को अहिंसा प्रेमी बनाकर एक महान् आदर्श रखा। आज भी जैन श्रमण-श्रमणी एव श्रावक-श्राविका अपने अपने आचार-विचारो के द्वारा अहिंसा को स्वय अपनाये हुए है और उसके प्रचार-प्रसार मे सलग्न हैं।

आत्म स्वातन्त्र्य

अन्य दर्शनों के विरुद्ध जैन धर्म का यह अपूर्व चिन्तन रहा है कि

स्वय कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वय भ्रमति ससारे, स्वय तस्माद् विमुच्यते॥

आत्मा स्वय कर्मों का कर्त्ता है, स्वय ही अपने किये हुए कर्मों के फल को भोगता है। वह स्वयं अपने भाग्य का विधाता है। अपने कर्म भोग के लिये वह किसी के भी अधीन नहीं है ईश्वर आदि के रूप मे कोई भी उसका भाग्य-विधाता नहीं है जैसे वह अपने असत्प्रयत्नों के द्वारा ससार मे परिभ्रमण करता है, जैसे वह अपने सत्प्रयत्नों के द्वारा कर्मों से मुक्त हो स्वयं ईश्वर भी बन सकता है। शक्ति और स्वरूप की दृष्टि से वह ईश्वर से जरा भी कम नहीं है। 'अप्पा सो परमप्पा' आत्मा ही परमात्मा है। प्रत्येक आत्मा अपने अध्यवसाय, पुरुषार्थ एव सबल प्रयत्नों के द्वारा जैसा चाहे वेसा बन सकती है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है कि—जैनधर्म के अनुसार जो आत्मा, एकबार कर्ममल से मुक्त हो परमात्मा बन चुकी है, वह पुनः जन्म नहीं लेती क्योंकि जन्म-मरण के कारणभूत उसके कोई कर्म नही रहता। इस तरह जैनधर्म 'अवतारवाद' मे विश्वास नही रखता।

आत्मा ससार मे परिभ्रमण, कर्मबन्ध के कारण करती है। कर्मबन्ध के कारण है -अज्ञान, राग-द्वेष। इनका नाश करने के लिये सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान एव सम्यग्चारित्र ये तीन उपाय जैनसंस्कृति ने बताये हैं। ये तीनों मोक्ष के मार्ग हैं। सम्यग्दर्शन एव सम्यग्ज्ञान के द्वारा अज्ञान का निवारण होता है और चारित्र द्वारा राग-द्वेष जैसे क्लेशो का क्षय होने से समभाव व्यापक बनता जाता है, अन्त मे आत्मा वीतराग बन जाती है।

जैनसंस्कृति की उपादेयता

संस्कृति का उद्देश्य, मानवता की भलाई करते हुए उसके लिये शाश्वत आनन्द का पथ प्रशस्त करना। जैनधर्म एव संस्कृति ने अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त एव आत्म-स्वतन्त्रता के महान् सिद्धान्त देकर प्राणिमात्र को सुख-शान्ति पुर्वक जीने की कला बताई। साथ ही आध्यात्मिक साधना द्वारा आत्मकल्याण कर शाश्वत् आनन्द प्राप्ति का महान् आदर्श रखा। जैनसंस्कृति के पुरस्कर्त्ताओ ने जो सिद्धान्त दिये वे भारतीय-सांस्कृतिक कोषागार की अमूल्य निधिया हैं। वे आज भी विश्वमंगल के लिये मार्ग-दर्शक हैं।

जय वीतरागः

मानव-जीवन

मानव जीवन की दुर्लभता

इस संसार मे जीवन की अभिव्यक्ति कीट, पतंग मनुष्य, देव इत्यादि कई रूपों मे होती है। जीव अपने कर्मानुसार जन्म लेता है, और मरता है। किन्तु इन सब जीवनों मे मानव-जीवन ही सर्वश्रेष्ठ जीवन है। क्योंकि इसी जीवन मे व्यक्ति आध्यात्मिक साधना द्वारा सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है। भगवान् महावीर ने कहा है। "माणुस्सं खु सुदुल्लहं" मानव-जीवन की प्राप्ति अत्यधिक दुर्लभ है।

प्राणी के जीवन का अनन्तकाल तो सूक्ष्म वनस्पतिकाय मे बीतता है। यह जीवन की सबसे निकृष्ट अवस्था है। एक श्वासोश्वास प्रमाण काल मे साढा सत्तरह भव अर्थात् अट्ठारह बार जन्म और सत्रह बार मरण हो जाता है। क्रमिक विकास होते होते जीव वहाँ से निकल कर बादर वनस्पतिकाय, पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु आदि मे आता है। कुछ और विकास होने पर स्थावर भाव से निकलकर त्रसभाव मे आता है। वहाँ भी द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय एव पचेन्द्रिय पशु-पक्षी आदि मे भटकता रहता है। यदि बीच मे पतन हो जाय तो पुन' एकेन्द्रिय आदि मे जाना पड़ता है। इस प्रकार उतार-चढ़ाव करते करते पुण्योदय से मनुष्य जीवन मिलता है अत. मनुष्य-जीवन की प्राप्ति होना बड़ा दुर्लभ है।

मानव जीवन का लक्ष्य

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख-शान्ति चाहता है। दुख अशान्ति कोई नहीं चाहता। क्योंकि सुख और शान्ति आत्मा का अपना स्वभाव है।

किन्तु सच्चे सुख का स्वरूप क्या है ? वह सुख कहाँ मिलेगा ? और कैसे
मिलेगा ? इस तथ्य को विरला ही कोई समझ पाता है। वस्तुतः सुख
का केन्द्र हमारी स्वय की आत्मा है किसी भी बाह्य-पदार्थ में सुख की
कल्पना करना केवल भ्रम है। न सुख धन मे है, न सत्ता-सम्मान मे
है न विषयोपभोग मे ही है। यही कारण है कि अनेकों सत्पुरुष एव
सन्नारियां अभावों के बीच भी सच्ची सुख-शान्ति का अनुभव करती हैं।

मोक्ष मे ही सच्ची सुख शान्ति मिलती है। और मोक्ष कर्म-रहित
होने पर मिलता है। आत्मा जब तक कर्मबद्ध रहती है, तभी तक दुखी
रहती है। तथा सुख के लिये सदा उत्कण्ठित रहती है। किन्तु कर्मों के
कारण आत्मा का सुख विकृत होकर दुख रूप मे बदला रहता है। और
वह अपने आपको दुखी अनुभव करती है। जब आत्मा बन्धन मुक्त हो
जाती है, उसका आनन्दस्वरूप प्रकट हो जाता है।

आनन्दस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति धर्म-साधना का प्रारम्भ 'वैराग्य' से
होता है। वैराग्य यानि ससार और विषयो के प्रति स्वाभाविक अरुचि
उत्पन्न होना। वैराग्य की स्थिति मे यह आभास होने लगता है कि
संसार मे जीवन चलाने के लिए कितना पाप बांधना पड़ता है। क्षणिक-
सुखों की प्राप्ति के लिये कितने कष्ट उठाने पड़ते है। आखिर इन
सबका परिणाम क्या होगा ? सदा....सदा के लिये सबको छोड़ कर
चले जाना। इन सब को देख कर ससार से स्वाभाविक अरुचि होना
'वैराग्य' है।

शुद्ध धर्म की प्राप्ति :

वस्तु का स्वभाव उसका धर्म है। आत्मा का धर्म है ज्ञान, दर्शन,
चारित्र, आनन्दादि। इन गुणों की प्राप्ति के साधन भी धर्मसाधन होने
से धर्म कहलाते हैं। इन साधनरूप धर्म की प्राप्ति भी 'चरमावर्त्त काल'
मे ही होती है। (चरमावर्त्त-संसार से मुक्त होने का अन्तिम-पुद्गल-
परावर्त्तकाल) चरमावर्त्त काल कहलाता है।

(असंख्यवर्ष=१ पल्योपम, १० कोडाकोडी पल्योपम = १ सागरोपम, २० कोडाकोडी सागरोपम = १ कालचक्र, अनन्तकालचक्र = १ पुद्गल परावर्त्त)।

'चरमावर्त्तकाल' मे भी कभी-कभी प्रारम्भ मे, कभी बीच मे तो कभी अन्त मे धर्म-सामग्री की प्राप्ति होती है। आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल मनुष्यजन्म, पचेन्द्रिय की पूर्णता इत्यादि तथा सुदेव-सुगुरु-सुधर्म का सयोग मिलता है। इन सब को पाकर अपने पुरुषार्थ द्वारा आत्मा आगे बढती है।

विचारणीय है कि—शुद्ध धर्म की प्राप्ति सभी जीवों को नहीं होती। किन्तु जो भव्य हैं, उन्ही को होती है।

भव्य अभव्य :—जीव दो प्रकार के है एक भव्य और दूसरा अभव्य। जिसमे मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता है वह भव्य है, और जिसमे वह योग्यता नही है, वह अभव्य है। अभव्य को कभी मोक्ष की श्रद्धा ही नही होती अत उसका ससार का पक्षपात कभी नहीं छूटता। जिसे यह जिज्ञासा हो कि मुझे मोक्ष मिलेगा या नही ? मैं भव्य हूँ या अभव्य हूँ ? ऐसा जीव भव्य होता है। क्योंकि उसके हृदय मे कहीं-न-कहीं मोक्ष की रुचि छिपी रहती है। तभी उसे ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न होती है। तथा भव-भ्रमण का भय रहता है।

भव्यत्व और अभव्यत्व, जीव का सहज स्वभाव है। आत्मा का स्वाभाविक परिणाम-विशेष है यह न उत्पन्न होता न उत्पन्न किया ही जाता है।

भव्य होते हुए भी सभी जीव मोक्ष चले जाते हों। ऐसी बात नहीं है। भव्य भी वे ही मोक्ष जाते हैं, जिन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र एव तप की आराधना का सुअवसर मिल जाता है।

—❀

मोक्षमार्ग-त्रिरत्न

(१) सम्यग्दर्शन :

मोक्ष की प्राप्ति सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म के द्वारा होती है। कहा है—'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'—सम्यग्-दर्शन-ज्ञान एव चारित्र मोक्ष का मार्ग हैं। इसमे सम्यक्तप का समावेश चारित्र के अन्तर्गत कर लिया है। अतः तीन ही मोक्ष मार्ग वताये।

सम्यग्दर्शन सम्यग्दर्शन के स्वरूप को जानने से पहिले यह जानना आवश्यक है कि उसके कितने भेद है? सम्यग्दर्शन के मुख्य दो भेद है। (१) निश्चय सम्यग्दर्शन (२) व्यवहार सम्यग्दर्शन।

(१) निश्चय-सम्यग्दर्शन आत्म-परिणाम विशेष है। मिथ्यात्व और अनतानुवधी (जीवनपर्यंत रहनेवाला) कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) के सर्वथा नाश या दवने से, आत्मा की जो स्थिति होती है, वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। यह भेदज्ञान जड़ और चेतन, शरीर और आत्मा की भिन्नता को समझने रूप है।

(२) सुदेव-सुगुरु-सुधर्म पर तथा उनके द्वारा वताये हुए तत्त्वों पर रुचि-श्रद्धा होना व्यवहार-सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है। अत. वह इन्द्रियग्राह्य नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति मे हम यह कैसे जान सकते हैं कि अमुक आत्मा मे सम्यग्दर्शन है या नहीं इसके समाधान मे शास्त्रकारों ने वतलाया कि—जिस आत्मा मे सम्यग्दर्शन आजाता है, उसमे कुछ विशेष लक्षण प्रकट हो जाते हैं, और हम उन लक्षणों द्वारा यह स्पष्ट जान लेते है कि अमुक व्यक्ति मे सम्यग्दर्शन है या नहीं? वे लक्षण निम्न है।

(१) शम क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय आत्मा में अनंतकाल से हैं। किन्तु जब इन कषायो की मन्दता हो जाती है, तब आत्मा अपने स्वरूप की ओर उन्मुख होता है। और वही मन्दता प्रशम है। एक व्यक्ति क्रोध आने पर भी शांत रहता है। लोभ का प्रसग आने पर भी सन्तोष रखता है, यह 'प्रशम' कहा जाता है। यह प्रशमगुण जिसमे होता है उसे सम्यग्दष्टि समझना चाहिये। शम-शांति।

(२) सवेग मोक्ष की ही अभिरुचि। ऐसी मोक्षरुचि हो जाय कि ससार के श्रेष्ठ भौतिक सुख, दुखरूप लगने लगें। केवल मोक्ष ही सुखरूप लगे।

(३) निर्वेद ससार पर विरक्ति होना। संसार के काम-भोगों के प्रति वैराग्य हो जाना। निर्वेद आत्मा की वह विशुद्ध स्थिति है जिसमें काम-भोगों के रहने पर भी उनके प्रति जरा भी लोलुपता नहीं रहती।

(४) अनुकम्पा ससार के दुखी जीवों को देखकर हृदय मे कम्पन होना उनपर करुणा-दया करना, उनके दुखों को टालने का प्रयत्न करना।

(५) आस्तिक्य 'तमेव सच्च णिस्सकं, ज जिणेहिं पवेइय।' जिनेश्वर भगवन्तों ने जो भी कहा है, वही सच्चा एवं असदिग्ध है। ऐसी अटल श्रद्धा होना आस्तिक्य है।

सम्यग्दर्शन मोक्ष का अनिवार्य उपाय है। इसके निर्मल होने पर बाद के सम्यग्ज्ञानादि साधन स्वत निर्मल हो जाते हैं। अत. सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाने के लिये सडसठ बातों का पालन करना पड़ता है। इन्हें व्यवहार समकित के सड़सठ बोल कहा जाता है।

सडसठ व्यवहार

४ सद्दहणा—(१) जीव अजीव आदि तत्वों का सतत् अभ्यास करना।
(२) परमार्थ को जानने वाले साधु-जनों की सेवा करना।
(३) सम्यग्दर्शन विहीन कुगुरु के सग का त्याग करना।
(४) मिथ्यादृष्टियो का परिचय, विशेष सम्पर्क-घनिष्ठता नहीं करना।

३ शुद्धि: जगत मे (१) जिनेश्वरदेव (२) जिनमत एव (३) जैनसंघ ही सार है। शेष सब असार है। ऐसी श्रद्धा होना।

३ लिंग: (१) ससार के भोगसुखों से भी ज्यादा धर्म शास्त्र को सुनने मे आनन्द आवे।

(२) अटवी मे भटकते हुए कई दिनों के भूखे व्यक्ति को जैसे भोजन की तीव्र अभिलाषा रहती है वैसे ही समकिती को चारित्र की तीव्र अभिलाषा रहे।

(३) विद्या-साधक जैसे विद्या-सिद्धि के लिये विविध सेवा एव उपासना करता है, वैसे समकिती भी अर्हत-अरिहंत परमात्मा एव साधुभगवन्तों की विविध-सेवा करे।

५ दूषण-त्याग:—(१) जिनवचन मे शका (२) अन्यधर्म की आकांक्षा (३) धर्म-क्रिया के फल मे सन्देह (४) मिथ्यादृष्टि की प्रशंसा और (५) मिथ्यादृष्टि गुरु का परिचय ये पांचों त्याज्य है।

५ भूषण (१) जैनशासन में कुशलता जैनधर्म के रहस्य को अच्छी तरह जानना।

(२) शासन-प्रभावना-जैनधर्म का खूब प्रचार-प्रसार हो ऐसा करना।

(३) शत्रुंजयादि स्थावरतीर्थ और साधु-साध्वी आदि जगम-तीर्थों की सेवा करना।

(४) स्व पर को जैनधर्म मे स्थिर करना। गिरते व डांवाडोल को स्थिर कर देना।

(५) संघ की भक्ति, विनय, वैयावच्च इत्यादि करना।

५ लक्षण शम, सवेग, निर्वेद, अनुकपा एव आस्तिक्य रखना।

६ आगार (१) राजा, (२) जनसमूह, (३) चोरादि, (४) कुल देवता, (५) मातापितादि गुरुवर्ग के भय से, तथा (६) आजीविका के निमित्त यदि समकित से विरुद्ध कुछ करना पड़े तो छूट रखना।

६ जयणा मिथ्यादृष्टि कुगुरु, सरागी देव तथा मिथ्यामतियों द्वारा अपने देवरूप मे मानी हुई जिन प्रतिमा का, वन्दन नमन, आलाप-संलाप, दान-प्रदान आदि नही करना चाहिए।

(वन्दन = हाथ जोड़ना, नमन = स्तुति आदि से प्रणाम करना, आलाप = विना बुलाए सम्मानपूर्वक बुलाना, सलाप = बार-बार बोलना, दान = पूज्य मानकर अन्न-वस्त्रादि देना। प्रदान = चन्दन, पुष्पादि पूजा सामग्री रखना, यात्रा-स्नान,विनयादि करना।)

६ भावना (१) मूल = सम्यक्त्व बारह व्रतरूप श्रावक धर्म का मूल है। मूल यदि सुरक्षित न हो तो वृक्ष सूख जाता है।

(२) द्वार = सम्यक्त्व मोक्ष का द्वार है दरवाजे के बिना नगर मे प्रवेश नही हो सकता।

(३) प्रतिष्ठान = सम्यक्त्व धर्मरूपी महल की नींव है। बिना नींव के मकान टिक नहीं सकता।

(४) भाजन = सिंहनी का दूध स्वर्ण पात्र मे ही टिक सकता है। वैसे चारित्रादिधर्म सम्यक्त्वी मे ही आ सकते हैं।

(५) भडार = हीरे-पन्ने आदि अमूल्य द्रव्य तिजोरी मे ही सुरक्षित रहते हैं, इसी प्रकार व्रतधर्म के लिये सम्यक्त्व आवश्यक है।

षट्स्थान

आत्मा से सम्बन्धित छः बातें हैं। इन पर पूर्ण श्रद्धा होना ही सच्ची आस्तिकता है। सच्चा सम्यग्दर्शन है। ये ही बातें षट्स्थान कहलाती हैं।

(१) आत्मा है।

(२) आत्मा नित्य है।

(३) आत्मा कर्म का कर्त्ता है।

(४) आत्मा अपने कृत-कर्मो का भोक्ता है।

(५) आत्मा का मोक्ष है।

(६) मोक्ष के उपाय है

(१) आत्मा है। सर्वप्रथम यह श्रद्धा होना चाहिये कि जड़ से भिन्न स्वतंत्र आत्मा है। जड़ और चेतन के पारस्परिक सहयोग से ही विश्व के कार्य-कलाप चलते हैं। जीव, जड़ अन्न खाता है तो शरीर बनता है, बढ़ता है और टिका रहता है। शरीर की आवश्यक इन्द्रियाँ हैं तो ही जीव उनके द्वारा गमनागमन करता है....आदि-आदि।

(२) आत्मा नित्य है : आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार लेने के पश्चात् तुरन्त ही यह प्रश्न सामने आता है कि यदि आत्मा है तो वह नित्य है या अनित्य है ?

उत्तर है कि आत्मा नित्य है। क्योंकि आत्मा को न किसी ने बनाया, न आत्मा कभी बना है। किन्तु आत्मा सनातन है। कर्म-पराधीन आत्मा एक गति से दूसरी गति मे भ्रमण करता रहता है। यही आत्मा का संसरण-संसार है।

(३) आत्मा का परिभ्रमण कर्म-कृत् है। अतः प्रश्न है कि उन कर्मों का कर्त्ता कौन है ? आत्मा है। राग-द्वेषजन्य अनेक विध वृत्ति-प्रवृत्ति द्वारा शुभाशुभ कर्मों को बांधती रहती है।

(४) आत्मा कर्म का कर्त्ता है तो भोक्ता भी वही है। उपार्जित किये हुए अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण ही जीव विविध शरीर रंग-रूप को धारण करता है। अज्ञान, रोग, जन्म, जरा, मृत्यु, यश, अपयश का भागी बनता है।

(५) आत्मा का जैसे कर्म बन्ध के कारण भव-भ्रमण होता है, वैसे उसका मोक्ष भी हो सकता है।

(६) जैसे राग-द्वेषादि कर्म बंध के कारण है, वैसे कर्म से छुट-कारा पाने के भी उपाय हैं। सम्यग् दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि मोक्ष के उपाय हैं। इनकी आराधना कर आत्मा सर्व कर्मों का क्षय कर मोक्ष प्राप्त कर सकती है।

षट् स्थानों मे प्रथम स्थान आत्मा अन्य द्रव्यों से स्वतन्त्र द्रव्य है

यह बड़ा ही महत्वपूर्ण है। अतः आत्मा की स्वतन्त्रता को सिद्ध करने वाले कुछ प्रमाण यहाँ दिये जाते हैं।

स्वतन्त्र आत्मद्रव्य के प्रमाण

शरीर से पृथक स्वतन्त्र आत्मा के अस्तित्व के साधक निम्नलिखित प्रमाण है।

(१) सुख, दुख, ज्ञान, इच्छा, राग, द्वेष, क्षमा, नम्रता आदि धर्म, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श से बिलकुल विलक्षण है अतः इनका आधारभूत द्रव्य भी पुद्गल से विलक्षण होना चाहिए। जो है वही आत्मा है।

(२) शरीर मे जब तक आत्मा है, तबतक ही खाये हुए अन्न से रस, रुधिर, मेद, केश, नख आदि बनते हैं। मुर्दे मे आत्मा नहीं है तो उसमे कुछ भी नही बनता।

(३) शरीर घटता बढता है। किन्तु शरीर के साथ ज्ञान सुखादि घटते-बढ़ते नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानादि, शरीर के अतिरिक्त किसी अन्य के धर्म है। वे जिसके धर्म हैं वही आत्मा है।

(४) शरीर कारखाना है, पेट बॉयलर है, हृदय मशीन है, दिमाग मैनेजर है। लेकिन इन सबका मालिक कौन है? जो है वही आत्मा है।

(५) इन्द्रियों मे ज्ञान प्राप्त करने की स्वतन्त्र-शक्ति नहीं है। क्योंकि मृतक की इन्द्रियां रहने पर भी वे कुछ कर नहीं सकती हैं। अतः जिसके रहने पर इन्द्रिया अपना २ कार्य करने मे समर्थ होती हैं, वही आत्मा है।

(६) प्रत्येक इन्द्रिय का अपना स्वतन्त्र विषय है। कान का विषय शब्द है। आख का विषय रूप है। नाक का विषय गन्ध है जिह्वा का विषय रस है, और त्वचा का विषय स्पर्श है। अतः "जो आम मैं देख रहा हूँ, उसी का स्वाद चख रहा हूँ" ऐसा जो एकीकरणात्मक ज्ञान होता है, वह किसी इन्द्रिय द्वारा सभव नहीं हो सकता। एकीकरण करने वाला कोई एक स्वतन्त्र द्रव्य होना चाहिये। वह जो भी है वही आत्मा है।

(७) शरीर कोई एक वस्तु नहीं है। किन्तु हाथ, पैर, सिर, मुँह, छाती, पेट आदि का समूह है वह कोई एक व्यक्ति नहीं है कि जो सभी के कार्मों का समन्वय कर सके। इसके लिए एक स्वतन्त्र आत्मद्रव्य को मानना ही होगा।

(८) किसी एक इन्द्रिय के नाश होने पर भी उसके द्वारा किये गये पूर्व अनुभवों का स्मरण होता है। यह कैसे स भव हो सकता है ? क्योंकि जो अनुभव करने वाला था। वह तो नष्ट हो चुका है। अतः मानना होगा कि इन्द्रिय से अतिरिक्त आत्मा नामक एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो अनुभव के समय भी था और आज भी इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर भी उसका स्मरण करता है।

(९) नये....नये विचार, लगन, इच्छा तथा तदनुरूप प्रवृत्ति करने, कराने वाली आत्मा है। अपनी इच्छानुसार हाथ, पैर आदि से प्रवृत्ति करवाती है और चाहे जब बन्द भी कर देती है।

(१०) किसी को पूर्वजन्म की स्मृति होती है। यह स्मरण तभी संगत हो सकता है, जबकि आत्मा शरीर से पृथक् हो और वह पूर्व जन्म से इस जन्म मे आया हो। अन्यथा पूर्व शरीर द्वारा किये गये अनुभवों का स्मरण इस शरीर को कैसे हो सकता है ?

(११) मशीन चलती है। किन्तु उसको चलाने वाला प्रत्यक्ष या परोक्ष मे कोई व्यक्ति अवश्य रहता है। नियम है कि "अचेतन चेतना-धिष्ठितमेव कार्यं करोति" चेतन से प्रेरित होकर ही अचेतन कार्य करता है। शरीर और इन्द्रियाँ अचेतन है अतः उनका प्रेरक कोई चेतन अधिष्ठाता चाहिये। जो है, वही आत्मा है।

प्रभावना जिन शासन की प्रभावना करनेवाली आठ विशेषतायें हैं। जिन विशेषताओं के कारण स्व और पर का सम्यक्त्व निर्मल होता है। (१) आगमों का पूर्णज्ञाता होना (२) धर्मोपदेश देने मे निपुणता होना (३) वाद मे दूसरों को जीतने की शक्ति होना। (४) भूत-भावी को जान लेना (५) तपस्वी होना (६) आकाश-गामिनी आदि विद्या-

का ज्ञाता होना (७) चमत्कारी शक्तियां होना (८) कवित्व शक्ति से सम्पन्न होना। इन आठों में से कोई भी शक्ति यदि किसी में है तो वह जिन शासन की महान् प्रभावना कर सकता है। कईयों को धर्म का श्रद्धालु बना सकता है।

(१०) विनय १ अरिहंत २ सिद्ध ३ आचार्य ४ उपाध्याय ५ साधु ६ जिनमंदिर एवं जिनमूर्ति ७ आगम ८ क्षमादि दशविध साधुधर्म ९ संघ एवं १० समकिती की विनय-भक्ति पूजा-प्रशंसा आदि करना। इनकी आशातना न हो, इसका पूरा ध्यान रखना। इस प्रकार व्यवहार समकित के ये सड़सठ प्रकार हैं।

यद्यपि सम्यग्दर्शन निश्चय से तो आत्मस्वरूप के प्रति श्रद्धा होना ही है। जड़ से भिन्न आत्मा का भान हो जाना है। सर्वज्ञ द्वारा कहे गये तत्वों के प्रति पूर्ण आस्था होना है। तथापि व्यवहार सम्यग्दर्शन, देव-गुरु-धर्म पर श्रद्धा रूप है। देवादि की श्रद्धा जीव को अन्तर्मुख बनाने में सहायक होती है अतः वह भी समकित कहलाती है। देव-गुरु-धर्म की भक्ति-पूजा-प्रशंसा दर्शन वंदन आदि से सम्यग्दर्शन का भाव पुष्ट होता है। विशुद्ध बनता है। अतः प्राथमिक-भूमिकावाले जीवों के लिये वह सब आवश्यक है।

जब व्यवहार समकित देव-गुरु धर्म पर श्रद्धारूप है तब देवादि वस्तुतः कौन हो सकते हैं? उनका स्वरूप क्या है ये सब जानना आवश्यक है? इसके साथ उनकी पूजा, भक्ति दर्शन-वंदन कैसे किया जाना चाहिये? यह भी जानना जरूरी है। अतः अब आगे यही सब विस्तार पूर्वक बताया जायेगा।

— ❀ —

देवतत्त्व

देवस्वरूप :

हमारा धर्म जैनधर्म है। जैन का का अर्थ है जिन को माननेवाला। जो जिन को मानता हो, जिन की भक्ति करता हो जिनकी आज्ञानुसार चलता हो वह 'जैन' कहलाता है।

अब प्रश्न है कि जिन किसे कहते हैं? राग-द्वेष रूपी अन्तरंग-शत्रुओं को जीतनेवाला जिन कहलाता है। आत्मा के असली शत्रु राग-द्वेष ही हैं। बाहर के शत्रु तो इन्हीं के कारण पैदा होते हैं। राग के कारण माया-लोभ उत्पन्न होते हैं और द्वेष कारण क्रोध और मान उत्पन्न होते हैं। आत्मा की आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होने से ये हमारे अन्तरंग शत्रु हैं। भव-भ्रमण रूप ससार को बढाने वाले होने से क्रोध, मान, माया, लोभ को कषाय कहते हैं।

राग-द्वेष से रहित होने के कारण 'जिन' 'वीतराग' भी कहलाते हैं। राग-द्वेषरूपी शत्रुओं का नाश करने से वे 'अरिहन्त' भी कहलाते हैं। अरि—शत्रु, हन्त—नाश करने वाला।

द्वेष, राग के कारण होता है अतः राग गया तो द्वेष भी गया। इसीसे वीतराग विशेषण से राग-द्वेष रहितता सूचित होती है।

'जिन' को अर्हत् भी कहते हैं। अर्हत् का अर्थ है- पूज्य-पूजा करने योग्य। जो जिन हैं, वे ससार के पूजने योग्य हो जाते हैं। उनकी पूजा व भक्ति आत्मिक उत्थान का कारण होती है।

'जिन' पूर्ण ज्ञान वाले हैं, तीनों लोकों के त्रैकालिक भावों को केवलज्ञान के द्वारा जानने से भगवान हैं, तथा राग-द्वेष रहित परम=शुद्ध,

आत्मा=चेतन ज्ञानादि की महानता होने से परमात्मा कहलाते हैं। इस तरह 'जिन' अठारह दोषों से रहित एवं अनन्त-विशुद्ध आत्मिक गुणों से सम्पन्न होते हैं।

अठारह दोष निम्नोक्त हैं।

(१) मिथ्यात्व=असत्यविश्वास, झूठापन।

(२) अज्ञान=मिथ्या, विपरीत ज्ञान।

(३) क्रोध=आवेशपूर्ण, उग्र, अविवेक रूप स्थिति।

(४) मान=अहंकार, अभिमान।

(५) माया—कपट।

(६) लोभ=संग्रह, परिग्रह वृत्ति, संतोष का अभाव।

(७ रति=इच्छित वस्तु के मिलने पर हर्ष।

(८) अरति—इच्छित वस्तु न मिलने पर खेद।

(९) निद्रा—नींद, आत्मभान रहितता।

(१०) शोक=दुःख, विरहादि में अनुताप।

(११) अलीक=झूठ।

(१२) चोरी दूसरों की वस्तु को मालिक की आज्ञा बिना ले लेना।

(१३) मत्सर=डाह, ईर्ष्या।

(१४) भय=७ प्रकार के।

(१५) हिंसा—कष्ट, दुःख देना, मारना, द्वेषभाव।

(१६) राग=आसक्ति।

(१७) क्रीडा=खेल, तमाशा आदि।

(१८) हास्य—हंसी-मजाक।

जब आत्मा इन अठारह दोषों से सर्वथा मुक्त हो जाती है तब वह आध्यात्मिक-विकास की पूर्णता पर पहुँच जाती है। केवलज्ञान एवं केवलदर्शन के द्वारा समस्त विश्व की ज्ञाता-द्रष्टा बन जाती है। वही परमात्मा, जिन, अरहंत-अर्हंत, अरिहन्त कहलाते हैं। ऐसी ही आत्मायें देव स्वरूप होती है। ऐसे देव को आदर्श बनाकर हम अपना आध्यात्मिक

विकास कर सकते हैं। किन्तु जो स्वय काम, क्रोधादि विकारों मे फंसे पड़े हैं वे दूसरों को विकार-रहित होने मे क्या आदर्श एव साधन हो सकते हैं ? इसलिए जैनधर्म मे सच्चे देव वे ही माने गये हैं. जो वीतराग हो, कर्मरूपी शत्रुओं का नाश करनेवाले हों, तीन लोक के पूजनीय एवं परमशुद्ध आत्मा हों।

तीर्थंकर :

तीर्थङ्कर जिन ही होते हैं, किन्तु सामान्य जिनों की अपेक्षा उनका महत्त्व इस बात में है कि वे तीर्थ के प्रवर्तक-कर्त्ता होते हैं। तीर्थ 'शब्द' का जैन परिभाषा के अनुसार मुख्य अर्थ है धर्म। ससार-समुद्र से आत्मा को तिरानेवाला अहिंसा, संयम, तप आदि धर्म ही है। अतः धर्म, तीर्थ है। तीर्थंकर अपने समय मे संसार-सागर से पार करनेवाले धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं, अत वे तीर्थंकर कहलाते हैं। धर्म का आचरण करनेवाले साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविकारूप चतुर्विध सघ भी गौण रूप से तीर्थ है। अतः चतुर्विध सघ की स्थापना करनेवाले भी तीर्थंकर कहलाते हैं। संसार समुद्र से पार होने के साधन बतलानेवाले-तारनेवाले तीर्थंकर होते हैं।

यद्यपि आध्यात्मिक-गुणों की अपेक्षा सामान्य जिन और तीर्थंकरों मे कोई भेद नहीं है तथापि धर्म-प्रवर्त्तन यौगिक शक्तियां एव उपकार की दृष्टि से तीर्थंकरों का स्थान महत्त्वपूर्ण है। तीर्थङ्कर परमात्मा केवलज्ञान होने के पश्चात् धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तन करते हैं। लोक-कल्याण के लिये धर्मोपदेश देते है। उनकी इस प्रवृत्ति के पीछे उनका व्यक्तिगत कोई स्वार्थ नहीं होता। क्योंकि वे तो केवलज्ञान-केवलदर्शन पाकर कृतकृत्य हो गये हैं। न उन्हें पन्थ चलाने का मोह है, न शिष्यों का मोह-स्वार्थ। न उन्हें पूजा-प्रतिष्ठा ही चाहिये। आचार्य शीलांक ने सूत्रकृतांग की टीका मे कहा है

"धर्ममुक्तवान् प्राणिनामनुग्रहार्थम्, न पूजा सत्कारार्थम्।"

इस तरह धर्म-प्रवर्त्तन द्वारा तीर्थंकर भगवान् हमारे आसन्न एवं विशेष उपकारी होने से हमारी आराधना व साधना के अवलंबन रूप वे ही होते हैं। हम उन्हीं की पूजा-भक्ति आदि करते हैं। नवकार मन्त्र में जो पचपरमेष्ठि अरिहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु हैं। उनमें प्रथम के दो तत्व देवतत्व के अन्तर्गत आते है। उनमे से प्रथम अरिहंत पद' तीर्थंकर का ही पर्यायवाची है। वे हमारी द्रव्य और भावपूजा दोनों के अधिकारी हैं। किन्तु सिद्धपरमात्मा का केवल ध्यान ही किया जाता है। जो भाव पूजा रूप है। उनकी द्रव्य पूजा नहीं सिद्धस्वरूप का अवलबन कर हम ध्यान कर सकते हैं।

देव दर्शन की उपयोगिता :

आत्मा निमित्तवासी है। शुभ निमित्त और शुभ वातावरण हो तो हमारे विचार शुभ बनते हैं। एवं सुसंस्कार पड़ते हैं। यदि निमित्त और वातावरण अशुभ है तो जीवन में विषय-विकारों का कचरा बढ़ता जाता है। हम सिनेमा जाते हैं, यदि खेल अच्छा हो, तो मन पर अच्छी असर पड़ती है। यदि दृश्य दु:खपूर्ण है तो हमे भी दुःख का अनुभव होने लगता है, कभो...कभी तो आंसू भी निकल जाते हैं। अश्लील-दृश्य देखने पर भावों मे मलिनता आ जाती है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा पर निमित्तों के अनुरूप असर पड़ती है। हमे अपने विषय-विकारों का परिमार्जन करना है, मन को पवित्र एवं निर्मल बनाना है। तो उसके लिये उपयुक्त निमित्तों की आवश्यकता होगी। अरिहन्त स्वरूप की परिप्राप्ति यदि हमारा लक्ष्य है तो तीर्थंकर की अविद्यमानता मे अवलबन के रूप मे अरिहत की प्रतिमा आवश्यक है। शुद्ध वातावरण के बीच अनुरूप अवलबन के सम्मुख की गई साधना निश्चितरूप से मन को एकाग्र करती है और सफलता प्राप्त कराती है।

जब हम अपना लक्ष्य निर्धारित करलेते हैं, तब उसके साधक एव साधन के प्रति हृदय मे अनन्य आस्था और श्रद्धा पैदा हो जाती है।

उससे हृदय मे आगे बढने की सत्प्रेरणा मिलती रहती है। यदि हमें आत्म विशुद्धि करना है, राग-द्वेष से परे होना है, तो हमारे लिये उन्हीं का अवलंबन लेना सार्थक होगा जो स्वयं राग-द्वेष से परे हों तथा परमात्मा बन चुके हों। अरिहन्त भगवान् ने अपने पुरुषार्थ द्वारा आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त की तथा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर लिया है। उनके इस स्वरूप की परिचायक उनकी मूर्ति व आकृति हमे उनकी साधना की स्मृति कराते हुये उस स्वरूप को प्राप्त करने की बलवती प्रेरणा प्रदान करती है कायोत्सर्ग या पद्मासन मुद्रा मे स्थित, शान्तरस से भरपूर जिन मुद्रा को देखकर किसके हृदय मे शान्ति का अनुभव नहीं होता ? ऐसे परमोपकारी, विश्ववन्द्य प्रभु की मूर्ति का अवलवन आत्मोन्नति के लिये लेना ही चाहिये।

प्रभु-दर्शन पूजन :

जैसे परमात्मा का दर्शन मन को पवित्र बनाकर कर्म निर्जरा का कारण बनता है, वैसे ही प्रभु की पूजा भावोल्लास को बढ़ाती है और भावोल्लास की चिनगारी कर्मों को जला कर खाक बनादेती है। धर्म की आराधना विषय-विकार का नाश कर कर्म क्षय के लिये की जाती है। जिस प्रकार तप व सयम से कर्मो का क्षय होता है, वैसे प्रभु की पूजा भक्ति से भी कर्मों का नाश होता है ऐहिक भी कई लाभ होते हैं। शुभभावों से पुण्य बध होता है, पुण्य से पौद्गलिक सुख स्वय मिलने लगते हैं।

१. प्रभु कल्पवृक्ष के समान है :

वीतराग प्रभु के दर्शन व पूजन की महिमा महान है कहा है

> दर्शनात् दुरितध्वंसी, वदनात् वांछितप्रदः।
> पूजनात् पूरकः श्रीणां, जिन साक्षात् सुरद्रुमः ॥

२. भक्ति से कर्मों का क्षय होता है :

> भत्तीइ जिणवराणं, खिज्जति पुव्व सचिया कम्मा।

श्री जिनेश्वर देव की भक्ति से पूर्व संचित कर्मों का नाश होता है। चैत्यवन्दनादि द्वारा भगवान की गुण स्तुति करने से ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय होता है। दर्शन से दर्शनावरणीय, गुणस्मरण-पूजन इत्यादि से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एवं विशुद्धि द्वारा मोहनीय कर्म; प्राणियों के प्रति करुणा जगने से असातावेदनीय, अरिहंतादि के नामस्मरण से अशुभ नामकर्म, वंदन-पूजन से नीचगोत्र एवं पूजा तथा भक्ति में द्रव्य का सदुपयोग करने से अन्तराय कर्म का नाश होता है।

आत्म स्वरूप की स्मृति-परम शान्ति की प्राप्ति = हम अपने गुणों एवं स्वरूप को विस्मृत कर बैठे हैं, प्रभु दर्शन से हमें अपने स्वरूप की स्मृति हो जाती है। एवं प्रशान्त वीतराग मुद्रा को देखते ही विषय-विराम एवं परम शान्ति का अनुभव होता है। श्रीमद् देवचन्द्रजी महाराज ने कहा है

अज कुलगत केहरी लहे रे, निज पद सिंह निहाल
तिम प्रभु भक्ते भवि लहै रे, आतम शक्ति संभाल ॥

३. धर्म प्राप्ति

प्रभु-दर्शन व पूजादि क्रिया से चतुर्विध धर्म की प्राप्ति होती है।

(१) पूजा में द्रव्य का अर्पण करने से दान धर्म।

(२) दर्शन पूजन के समय विषय-विकार की उपशान्ति होने से शीलधर्म।

(३) दर्शन-पूजन के समय चारों आहारों का त्याग होने से तपधर्म।

(४) प्रभु की भक्ति-भावना, चैत्यवन्दनादि द्वारा भाव धर्म।

४. गुणों का सम्मान :

पूजा के माध्यम से प्रभु के वीतरागतादि गुणों का सम्मान होता है। इससे गुणों की वृद्धि व अवगुणों का नाश होता है।

५. मोक्षप्राप्ति :

भगवान् के दर्शन, पूजन व चैत्यवन्दनादि क्रिया से विषय-विकारों की निवृत्ति होती है। पाप-भीरुता आती है। बार-बार उनके गुणों के स्मरण तथा सूत्रार्थ का चिन्तन करने से आत्मा मे गुणों का विकास होता है। आत्मा निर्मल बनती है। अन्त मे कर्म क्षय हो, आत्मा मोक्ष प्राप्त करती है। कहा है

जिनवर पूजा रे ते निज पूजना रे, प्रगटे अन्वय शक्ति।
परमानन्द विलासी अनुभवे रे, देवचन्द्र पद व्यक्ति।

देवदर्शन पूजन-विधि

कोई भी कार्य विधिवत् करने से सफलता मिलती है। देव-दर्शन पूजन भी यदि विधिवत् किया जाय तो आत्मविशुद्धि होती है। खूब शुभ भावना के साथ घर से निकलकर, जीव-जन्तु न मरे इसका खयाल रखते हुए, मौन-पूर्वक मन्दिर जाना चाहिये। मन्दिर मे प्रवेश करते ही 'निसीहि' बोलना चाहिये तथा प्रभु को देखते ही सहज झुककर अंजली मस्तकपर लगाकर 'नमो जिणाणं' बोलना चाहिये। फिर 'निसीहि' से लेकर चैत्यवन्दन की समाप्ति तक १० त्रिकों का पालन करना होता है।

त्रिक : दर्शन-पूजन, सम्बन्धी विशेष क्रिया जो तीन-तीन की जाती है।

मन्दिर मे प्रवेश करते निसीहि, बाद प्रदक्षिणा, फिर प्रभु के सामने खड़े होकर प्रणाम-स्तुति। फिर यदि पूजा करनी हो तो, प्रभु की अग-पूजा....अष्टप्रकारी पूजा, स्नात्र पूजा इत्यादि करना। फिर प्रभु के सामने खडे हो भावना प्रभु की अवस्थाओं चिन्तन करना। इस तरह 'निसीहि से लेकर अवस्था-चिन्तन तक पाँचत्रिक पूर्ण हुए। यदि प्रभु की अंग-पूजा न करनी हो तो स्तुति करने के पश्चात् प्रभु की धूप-दीप-अक्षत फल-नैवेद्य पूजा कर चैत्यवन्दन की विधि शुरू करनी चाहिये। चैत्यवन्दन

के ५ त्रिक होते है। सर्वप्रथम भगवान के सिवाय की सारी दिशाओं का देखना बन्द कर, खडे रहने की जमीन को तीन वार प्रमार्जन करना चाहिये बाद मे चित्त का आलंबन निश्चित कर, हाथों की मुद्रा का कर समायोजन एकाग्रतापूर्वक चैत्यवन्दन शुरू करना चाहिये।

दस त्रिक निम्नलिखित हैं

(१) निसीहि
(२) प्रदक्षिणा
(३) प्रणाम
(४) पूजा।
(५) भावना
(६) दिशा का त्याग
(७) प्रमार्जन
(८) आलम्बन
(९) मुद्रा
(१०) प्रणिधान

(१) निसीहि सावद्य प्रवृत्ति-पापकर्म का निषेध। निसीहि तीन बार अलग-२ भावना रखते हुए कही जाती हैं।

(क) प्रथम निसीहि : मदिर के द्वार मे प्रवेश करते समय बोली जाती है।

यह निसीहि केवल जिनालय सम्बन्धी कार्यों को छोड़कर शेष घर, व्यापार आदि सांसारिक पापकार्यो का त्याग करने के लिये कही जाती है।

(ख) द्वितीय निसीहि गर्भ-गृह (जहाँ भगवान विराजमान हों) के द्वार पर प्रदक्षिणा के बाद कही जाती है। यह निसीहि केवल प्रभु-पूजा (अष्ट प्रकारी पूजा) को छोड़कर शेष मदिर की साफ-सफाई, शिल्प-कार्य, जीर्णोद्धार कचरा आदि व्यवस्था सम्बन्धी चिन्ताओं का त्याग करने के लिये कही जाती हैं।

(ग) तृतीय निसीहि : भाव पूजा के पहले बोली जाती हैं। द्रव्य-पूजन का त्याग।

जिन वस्तुओं का त्याग कर दिया जाता है, वहाँ अपना ध्यान पुनः नहीं जाना चाहिये।

(२) प्रदक्षिणा : प्रदक्षिणा का अर्थ परिक्रमा होता है। प्रभु के दाहिने ओर से अर्थात् अपने बायें हाथ की तरफ से प्रभु के चारों तरफ तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिये। जिससे कि चारों गतियों, ७८ अधोमध्य लोक त्रय का भव-भ्रमण मिटे। भव-भ्रमण मिटाने के लिये तीन प्रमुख बातों की आवश्यकता हैं : (१) सम्यग् ज्ञान (२) सम्यग् दर्शन (३) सम्यग् चारित्र। इन तीनों को रत्नत्रयी भी कहा जाता है।

प्रदक्षिणा देते समय मन मे यह ध्यान धरणा चाहिये कि मैं समवसरण की प्रदक्षिणा दे रहा हूं।

काल अनादि अनन्त थी,
भव भ्रमणनो नहिं पार।
ते भव भ्रमण निवारवा,
प्रदक्षिणा दूँ त्रणवार॥

(३) प्रणाम प्रणाम अपने से बड़े व गुणी व्यक्ति को किया जाता है, प्रणाम तीन प्रकार के होते हैं :

(क) अजलिबद्ध सहज झुककर अंजलि बनाकर मस्तक से लगाना अजलिबद्ध प्रणाम कहलाता है। यह प्रणाम प्रभु के दर्शन होते ही "णमोजिणाण" आदि कहते हुए कहा जाता है।

(ख) अर्धावनत—अपने शरीर को आधा झुकाकर हाथों द्वारा अंजली बनाकर मस्तक से लगाकर प्रणाम करना।

(ग) पचांग प्रणिपात प्रणाम इस प्रणाम का उपयोग भाव पूजा मे होता है। चैत्यवन्दन से पहले खमासमणा देते समय इस प्रणाम का उपयोग होता है। इस प्रणाम मे पाँचों अगों (दो घुटने + दो हाथ + १ मस्तक) को आपस मे मिलाकर जमीन से स्पर्श कराया जाता है।

(४) पूजा पूज्य व्यक्तियों के प्रति सामान्य नागरिक जो श्रद्धा व्यक्त करता है अथवा गुणानुराग करता है, वही उनकी पूजा है। पूजा के मुख्य दो प्रकार होते हैं (१) द्रव्य पूजा (२) भाव पूजा। द्रव्य पूजा के

दो भेद किये गये (१) अग पूजा (२) अग्रपूजा। इस प्रकार कुल तीन प्रकार की पूजा होती है।

(क) अगपूजा जिस पूजा मे प्रभु के अंगों को स्पर्श किया जाता है, उसे अग पूजा कहते है। यह पूजा पचामृत, जल, चन्दन, पुष्प एवं वस्त्र द्वारा की जाती है। यह पूजा सर्व विघ्नों का नाश करती है।

(ख) अग्र-पूजा वह पूजा जो कि वीतराग प्रभु के सन्मुख द्रव्य वस्तु रखकर की जावे। जैसे धूप, दीप, अक्षत, नैवेद्य, अर्घ्य, आदि व नृत्य, वाजित्र आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं।

(ग) भाव-पूजा— इस पूजा मे गुणगान किया जाता है, भावों द्वारा गुणानुराग प्रदर्शित किया जाता है। प्रभु के प्रति भक्ति एव अपनी आत्मा मे शुद्ध भावों की परिणति करना ही भाव पूजा है। यह चैत्य-वदन प्रभु-कीर्तन, स्तुति एव स्तवन द्वारा की जाती है। यह पूजा मोक्ष दिलाने वाली है।

(५) भावना अवस्था इस त्रिक मे प्रभु के जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का चिन्तन किया जाता है। द्रव्य पूजा करने के बाद पुरुष हो तो प्रभु के दाहिने ओर यदि स्त्री हो तो प्रभु के बाँयी ओर खड़े होकर तीनों अवस्थाओं को चिन्तन करना चाहिये।

(१) पिण्डस्थ अवस्था (२) पदस्थ अवस्था (३) रूपस्थ अवस्था।

पिण्डस्थ अवस्था को तीन भागों मे विभाजित किया गया है।

(क) जन्मावस्था (ख) राज्यावस्था (ग) श्रमणावस्था।

(क) जन्मावस्था हे नाथ! आपने तीर्थङ्कर के भव मे जन्म पाया तब ५६ दिक्कुमारियों और ६४ इन्द्रों ने आपका जन्माभिषेक उत्सव मेरु पर्वत पर मनाया। बाल अवस्था मे भी महिमा कैसी थी! फिर भी प्रभु आपने लेशमात्र भी अभिमान नही किया। धन्य लघुता! धन्य गाभीर्य।

(ख) राज्यावस्था : हे तारकदेव! आप को बड़ी-बड़ी राज्य

संपत्ति व परिवार मिले। इस पर भी आपको जरा भी राग-द्वेष छूए नहीं, आप अनासक्त योगी की तरह रहे। धन्य वैराग्य।"

(ग) श्रमणावस्था : 'हे प्रभु! बड़े वैभव पूर्ण संसार को तृणवत् छोड़ कर आत्मकल्याण के लिए आपने साधु-जीवन स्वीकार कर घोर-परिषह (कष्ट) व उपसर्ग समता से सहने के साथ अतुल त्याग व कठोर तपस्या की एवं रात-दिन खड़े पाँव ध्यान किया, और घन-घाती कर्मों का सर्वथा नाश किया। धन्य साधना, धन्य पराक्रम!'

(२) पदस्थ भावना : केवलज्ञान प्राप्ति के बाद की अवस्था। भावना-हे तारकदेव! आपने स्व-कल्याण तो किया ही साथ-ही-साथ धर्मोपदेशादि द्वारा निस्वार्थ पर-कल्वाण भी किया। आप स्वय तो तिरही गये पर साथ ही लाखों प्राणियों को भी तार गये। आपका अकारण वात्सल्य उल्लेखनीय हैं।

(३) रूपस्थ अवस्था मुक्त हो जाने के बाद अर्थात् सिद्धावस्था। भावना—हे परमात्मन् आपने सर्व कर्मो का समूल नाश कर अशरीरी, अरूपी शुद्ध-वुर्द्ध-मुक्त सिद्ध अवस्था प्राप्त करके कैसे अनन्त ज्ञान, अनन्तसुख मे लीन हुए, कैसे अनन्त गुण! कैसी वहाँ सदा निष्कलक, निर्विकार निराकर स्थिति! वहाँ कोई भी जन्म-मरण, रोग-शोक, दारिद्र, इत्यादि पीड़ा हो नही! आप कटघरे, बधन की स्थिति से मुक्त हो गये। धन्य प्रभु!'

(६) दिशा-त्याग त्रिक : दर्शन पूजन आदि करते समय मन को अधिक एकाग्र करने के लिए एक दिशा को छोड़ (जिस तरफ प्रभु की मूर्ति हो) अन्य सभी नौ दिशाओं का त्याग किया जाना चाहिये।

(७) प्रमार्जना :—जैन दर्शन अहिंसा प्रधान दर्शन है। इसमे प्राणि मात्र के प्रति प्रेम व मैत्री भावना को सर्वोपरि माना गया है। इसलिये बैठते समय तीन बार दुपट्टे के छोर से जगह को मृदुता से प्रमार्जित (झाड़-पोंछ) कर लें जिससे जीव-हिंसा न होने पायें।

(८) आलम्बन : साधना तभी सफल हो सकती है जबकि हमारा ध्यान एकाग्र व दत्तचित्त रहे, जिससे हम कोई गलत क्रिया न कर जाँय। आलम्बन तीन (१) सूत्र (२) सूत्र के अर्थ (३) प्रतिमा जी। हम जो भी बोलें उन शब्द, और उनके अर्थ प्रतिमाजी इन तीनों मे ही हमारा चित्त एकाग्र होना चाहिए।

(९) मुद्रा :—(अंग-विन्यास विशेष) प्रत्येक कार्य व क्रिया के लिये उपयुक्त अंग-विन्यास की आवश्यकता होती है जैसे क्रिकेट, हाकी आदि खेलते समय भिन्न-भिन्न प्रकार का अंग विन्यास होता है। उसी प्रकार "जिन भगवान" के दर्शन पूजन के लिये भी भिन्न-भिन्न मुद्राओं की आवश्यकता होती हैं। मुद्रा तीन प्रकार की बताई गयी है (क) योग मुद्रा (२) जिन (३) मुक्तासुक्ति।

(क) योग-मुद्रा : सूत्र, स्तुति, स्तवन आदि बोलते समय दोनों हाथों को कोहनी तक जोड़ कर नाभि मे रखना चाहिये (जैसे कमल व कमल नाल सरोवर से निकलते हैं) इस मुद्रा को योग-मुद्रा कहते हैं।

(ख) जिन-मुद्रा (कायोत्सर्ग मुद्रा) इस मुद्रा मे पाँवों मे दोनों पर्वों के बीच ४ अगुल और पिछले हिस्से मे दो अगुल का अवकाश (अन्तर) रखना चाहिये। साथ ही स्थिरता पूर्वक खडे रहना चाहिये, कोई भी अंग हिलना नहीं चाहिये दोनों हाथ एकदम सीधे घुटनो से स्पर्श करते रहना चाहिये। इसका उपयोग चैत्यवदन मे अरिहत चेइयाण, अन्नत्थ, लोगस्स, इरियावहिय व स्तुति बोलते समय होता हैं।

(ग) मुक्ता-सुक्ति मुद्रा (सीपाकार मुद्रा) इसका उपयोग चेइआई, जावत केविसाहू एव जयवीयराय आदि कहते समय होता है। इस मुद्रा मे दोनो हाथों को आपस मे मिलाकर हथेलियों को गर्भित आकार अर्थात् सीप जसी आकृति बनाकर कोहनियों को पेट पर रखा जाता है।

(१०) प्रणिधान त्रिक (चित्त स्थापन) : चैत्यवदन मे मन, वचन व काया को दूसरे विचारों मे जाने से रोककर चैत्यवंदन व प्रभु-

भक्ति में स्थापित करना ही प्राणिधान कहलाता है। नीचे के सूत्रों को विशेष एकाग्रता से बोलना चाहिये।

(क) चेइयवंदण प्राणिधान : जावंति चेइआइं से लेकर 'इह संतोतत्थ सताई पर्यन्त।

(ख) मुनि वंदन प्राणिधान : 'जावंत केविसाहू' से 'तिविहेण-तिदंड विरयाण तक।

(ग) प्रार्थना प्राणिधान- 'जय वीयराग' से लेकर आभवम खण्डा तक। इस प्रकार दस त्रिक यहां पर पूर्ण हुए।

नवांग पूजा

पूजा के मुख्य दो भेद हैं। (१) द्रव्य पूजा (२) भाव पूजा। अंगपूजा व अग्र पूजा, द्रव्य पूजा के भेद हैं। जो पूजा अन्तरात्मा के भावों द्वारा की जाती है, उसे भाव-पूजा कहते हैं, जैसे चैत्यवंदन, स्तवन आदि।

भगवान की विधिपूर्वक पूजा करने वाला आत्मा स्वर्गादि सुखों को पाता हुआ अंत में सिद्धि पद को पा लेता है क्योंकि भगवान की पूजा से मन शान्त होता है मन की शान्ति से शुभ ध्यान से मोक्ष मिलता है।

कहा गया भी है

"गुणी से गुण नहीं भिन्न है, तिन पूजा गुणवान।
गुणी पूजा गुण देत है, पूर्ण गुणी भगवान।।"

प्रभु के नव अंगों की चन्दन पूजा का शास्त्रों मे विधान है। पूजार्थी को स्नान कर शुद्ध वस्त्र पहिन कर, हाथ मे चन्दन की कटोरी, पुष्प इत्यादि सामग्री लेकर मूल द्वार मे निस्सीहिं, बोलकर प्रवेश करना चाहिए : भगवान की पूजा दाहिने हाथ की अनामिका अँगुली से ही करनी चाहिये।

प्रभु के नव अंगों के नाम : (१) पैर का अँगूठा (२) घुटना जंघा (३) कलाई (४) कंधा (५) शिखा (६) कपाल (७) कंठ (८) हृदय (९) नाभि।

इनकी पूजा करते समय निम्न भावना (चिंतन) करनी चाहिये :

(१) अंगूठा (चरण पूजा)

"जल भरि सपुट पत्रमां, युगलिक नर पूजत ।
ऋषभ चरण अंगूठड़े, दायक भवजल अंत ॥"

(२) घुटना "जानु बले काउस्सग्ग रह्या, विचर्या देश विदेश ।
खड़ा खड़ा केवल लह्यु, पूजो जानु नरेश ॥"

(३) कलाई "लोकांतिक वचने करी, वरस्या वरसीदान ।
कर कांडे प्रभु पूजना, पूजो भवि बहुमान ॥"

(४) कंधा "मानगयु दोय अंश थी, देखी वीर्य अनन्त ।
भुजाबले भवजल तर्या, पूजो खंध महन्त ॥"

(५) सिर शिखा (सिर)—

"सिद्ध-सिला गुण ऊजली, लोकांते भगवन्त ।
वसिया तिण कारण भवि, सिर-शिखा पूजन्त ॥"

(६) कपाल "तीर्थंकर पद पुण्य से, त्रिभुवन जन सेवंत ।
त्रिभुवन तिलक समा प्रभु, भाल तिलक जयवंत ॥"

(७) कंठ "सोलह प्रहर प्रभु देशना, कंठ विवर वर्तुल ।
मधुर ध्वनि सुरनर सुने, तिण गले तिलक अमूल ॥"

(८) हृदय- "हृदय कमल उपशम बले, बाल्या राग ने द्वेष ।
हिम दहे वन खंड ने, हृदय तिलक संतोष ॥"

(९) नाभि "रत्नत्रयी गुण उजली, सकल सगुण विश्राम ।
नाभि कमलनी पूजना, करता अविचल धाम ॥"

(१०) उपदेशक नव तत्वना, तिणे नव अंग जिणंद ।
पूजो बहुविध भावशुं, कहे शुभवीर मुणींद ॥

इस प्रकार ९ अंगों की पूजा मे निहित अमूल्य भावों को आत्मसात् कर जिनेन्द्र भगवान को पूजा हमें तन-मन-ध्यान के साथ करनी चाहिये ।

अष्टप्रकारी पूजा।

अष्ट प्रकारी पूजा, अपने भावों की मूक अभिव्यक्ति हेतु एक महत्वपूर्ण क्रिया है। पूजन करते समय भूख, प्यास, मोह, अज्ञान, ज्ञानावरण आदि कर्म सांसारिक-संताप, कामवासना का नाश तथा मुक्ति पद की प्राप्ति करने की पवित्र भावना से जल आदि द्रव्य भगवान के चढ़ाये जाते हैं। यहाँ अष्ट प्रकारी पूजा का चिंतन पूर्ण वर्णन हैं।

(१) जल पूजा।

जल पूजा जुगते करो, मैल अनादि विनाश।
जल पूजा फल मुझ हुजो, मांगो एम प्रभु पास॥

अर्थात् जल पूजा करते समय मन में यह भाव होने चाहिये कि, हे वीतराग! जिस प्रकार जल से द्रव्य मैल दूर होता है, उसी प्रकार मेरी आत्मा के साथ अनादिकाल से लगा हुआ भाव मल "शुभ भाव रूपी" जल से धुल जाय।

(२) चन्दन पूजा

शीतल गुण जेहमां रह्यो, शीतल प्रभु मुख रंग।
आत्म शीतल करवा भणी, पूजो अरिहा अंग।

अर्थात् जैसे चन्दन में शीतलता और सुगन्ध होती है, उसी प्रकार की शीतलता, काम-क्रोध आदि ताप का उपशम मेरी आत्मा में आ जाये तथा "समभाव" रूपी सौरभ की मुझे प्राप्ति हो।

(३) पुष्प पूजा।

सुरभि अखण्ड कुसुमे ग्रही, पूजो गत सन्ताप।
सुमन जन्तु भव्यन परे, करीए समकित छाप॥

अर्थात् जिस प्रकार पुष्प सुगन्धित कोमल एवं विकसित होते हैं उसी प्रकार हे प्रभो! आत्मा में ज्ञान, दर्शन चारित्र रूपी रत्नत्रयी का विकास हो तथा क्रोध आदि कषायों की दुर्गंध नाश होकर "सद्गुणों की सुगन्ध" प्राप्त हो।

(४) धूप-पूजा

ध्यान घटा प्रगटावीये, वाम नयन जिन धूप।
मिच्छत्त दुर्गन्ध दूरे टले, प्रगटे आत्म स्वरूप॥

अर्थात् धूप करते समय विचार करना कि हे प्रभो मेरा कर्मरूपी महा ईंधन भस्म हो जाय जिस प्रकार इस धूप से अशुभ गंध आदि नष्ट होकर सुगंध फैलती है, उसी तरह मेरी आत्मा के अशुभ भावों का नाश हो और शुभ भाव सौरभ उत्पन्न हो। साथ ही जिस प्रकार इसका धूँआ उर्ध्वगमन करता है, उसी प्रकार मैं भी उर्ध्वगामी बनूँ।

(५) दीप पूजा

द्रव्य दीप सुविवेक थी, करतां दुख होय फोक।
भाव प्रदीप प्रकट हुए, वासित लोकालोक॥

अर्थात्—जिस प्रकार दीपक अंधकार को दूर करता है, उसी प्रकार है वीतराग! "मेरा अज्ञान रूपी अंधकार ज्ञान रूपी दीपक" से नष्ट हो जावे और मुझे पंचमगति (मुक्तिपद) की प्राप्ति हो।

(६) अक्षत पूजा

शुद्ध अखण्ड अक्षत ग्रही, नन्द्यावर्त विशाल।
पूरी प्रभु सन्मुख रहो, टाली सकल जंजाल॥

अर्थात् जिस प्रकार चावलों का उपरी छिलका दूर करने से चावल अखण्ड, उज्जवल एवं निर्मल होते हैं, उसी प्रकार मेरी आत्मा के उपर जो "कर्म रूपी छिलका" लगा हुआ है, वह दूर हो जाय। चावल को निम्न रूप में चढ़ावें।

O सिद्ध भगवान
⌣ सिद्ध शिला

O O O
सम्यक् ज्ञान सम्यक् दर्शन सम्यक् चारित्र

मनुष्य योनि 卐 देवता योनि

तिर्यंच योनि नारकी योनि

सिद्धशिला व उसके नीचे तीन ढिगली करते समय बोलना

दर्शन ज्ञान चारित्रना, आराधना थी सार।
सिद्ध-शिलानी उपरे, हो मुज वास श्रीकार ॥

स्वस्तिक करते समय नीचे लिखे तीन दोहे बोलने चाहिये

अक्षत पूजा करता थकां, सफल करूं अवतार।
फल मांगु प्रभु आगले, तार-तार मुझ तार ॥१॥

सांसारिक फल मांगीने, रखड़ियो बहु संसार।
अष्ट कर्म निवारवा, मांगु मोक्ष फल सार ॥२॥

चिहुँ गति भ्रमण संसारमां, जन्म मरण जंजाल।
पंचम गति विण जीवने, सुख नहीं त्रिहुँ काल ॥३॥

(७) नैवेद्य पूजा

अणाहारी पद मे कर्या, विग्रह गई अनन्त।
दूर करो ते दीजिये, अणाहारी शिव सन्त ॥

अर्थात् हे प्रभु! आपने रसनेन्द्रिय के विषयों पर विजय प्राप्त कर ली है, परन्तु मैं इनमे आसक्त लीन हूँ। इसलिये मैं आप की नैवेद्य पूजा करते हुए प्रार्थना करता हूँ कि मेरी भी रसनेन्द्रिय पर विजय हो और मैं "अनाहारी" पद को प्राप्त करूँ।

(८) फल पूजा

इन्द्रादिक पूजा भणी, फल लावे धरी राग।
पुरुषोत्तम पूजा करी, मांगे शिव फल-त्याग॥

अर्थात्—यह द्रव्य फल आप को अर्पण करता हुआ मैं कामना करता हूँ कि मुझे भी "सम्यक्त्व" रूपी भावफल की प्राप्ति हो और अंत में मेरी आत्मा को मोक्ष रूपी पूर्ण फल मिले।

इस प्रकार अष्ट प्रकारी पूजा करते समय मन मे भावना पैदा करनी चाहिये कि इसके फल स्वरूप मेरे आठ कर्मों का क्षय हो। वास्तव में द्रव्य पूजा, भाव पूजा के निमित्त ही की जाती हैं क्योंकि द्रव्य पूजादि भावोत्पादन मे सहायक होती हैं।

पूजा में ध्यान रखने योग्य बातें :

(१) द्रव्य-पूजा मे अपनी शक्ति के अनुसार पूजा-द्रव्य घर से ले जाने चाहिये। (२) पुष्प की कलियाँ टूटे नहीं, हार बनाते समय सूई से छेदें नहीं। (३) प्रभु के अंग पर खसकूँची करते समय जरा भी उसकी रगड़ व आवाज न हो। जोर से न घिसें। (४) प्रभु के अंग पर लगाये जाने वाले पुष्प आभूषण, अंगलूहने आदि जमीन पर पड़ने या छूने नहीं चाहिये। गिर गये हो तो उपयोग मे न लेना। इनको स्वच्छ थाल मे रखना। (५) मुंह पर मुखपोश बाँध कर, हाथ साथ केसर चन्दन घोटने का पाषाण धोकर ही केसर घोटनी चाहिये। (६) चैत्यवंदन स्तुति इस तरह न बोलें की दूसरे के भक्ति-योग में व्याघात हो। (७) चैत्यवंदन करते समय स्वस्तिक या दूसरी कोई क्रिया नहीं करनी चाहिये (८) बाहर निकलते समय अपनी पीठ प्रभु को न दिखे, इत्यादि।

चैत्यवंदन विधि

द्रव्यपूजा करके तीसरी नीसीहि बोलने के पश्चात्, 'इच्छाकारेण संदिसह भगवन् इरियावहियं पडिक्कमामि....कहकर-इरियावहि, तस्स

उत्तरी, अन्नत्थ का पाठ बोलकर चार नवकार का कयोत्सर्ग करें। बाद में प्रकट लोगस्स बोलें। इसके पश्चात्—

१. प्रणिपात तीन बार खमासमण सूत्र बोलकर पंचांग नमस्कार करें।

२. चैत्यवन्दन इच्छाकारेण सदिसह भगवन् चैत्यवन्दन करूं यह आदेश मांगकर "इच्छं" कहकर चैत्यवदन करें।

३. तीर्थवन्दन 'जंकिंचि' सूत्र द्वारा।

४. अर्हत्‌वन्दन 'शक्रस्तव (णमोत्थुणं) सूत्र द्वारा।

५. सर्वचैत्यवन्दन जावन्तिचेइआइं सूत्र द्वारा।

६. प्रणिपात 'एक खमासमण बोलकर।

७. सर्वसाधुवदन 'जावत केविसाहू सूत्र द्वारा।

८. स्तवन—मंगलरूप 'नमोऽर्हत' सूत्र बोलकर प्रभु गुणकीर्तनरूप या आत्म-निवेदन गर्भित स्तवन बोलना।

९. प्रार्थना—अंजलीमस्तक पर लगाकर 'जयवीयराय' द्वारा।

१२ कायोत्सर्ग अरिहत चेइयाण एव 'अन्नत्थ' बोलकर एक नवकार का कायोत्सर्ग करें।

१३. स्तुति—कायोत्सर्गबाद मगल रूप 'णमोऽर्हत् बोलकर भावपूर्ण स्तुति जैसे 'मूरति मन मोहन' इत्यादि बोलें।

१४. प्रणिपात 'खमासमण' लगाकर यथाशक्ति प्रत्याख्यान करें। फिर प्रार्थना-भावना करके अविधि के लिये 'मिच्छामि दुक्कड' कहकर विधिपूर्ण करें।

मन्दिर की प्रमुख आशातनायें एवं सामान्य उपकरण

मन्दिर आत्मोन्नति का परमधाम एव शान्ति का स्थान है। उसकी मर्यादाओं का पालन करना एव आशातनाओं का निवारण करना हमारा परमकर्त्तव्य है।

मन्दिर सम्बन्धी कुल ८४ आशातनायें हैं। मध्यम ४२ एव जघन्य १० आशातनायें हैं। प्रत्येक उपासक का कर्त्तव्य है कि वह जहाँ तक

हो सके इन आशातनाओं का निवारण करें, कम-से-कम १० आशातनाओं से तो अवश्य ही बचें। आशातना = जिससे ज्ञान, दर्शन, चारित्र की क्षति हो।

१—मन्दिर में पान, सुपारी आदि वस्तुयें रखना-खाना।

२—पानी आदि पेय-पदार्थों का उपयोग करना।

३ भोजन करना।

४ जूता-मोजा आदि पहनना।

५ रतिक्रीडादि विलास करना।

६ निद्रा लेना।

७ कफ-थूक आदि गिराना।

८—पेशाब इत्यादि करना।

९—शौच जाना।

१०—तास, चौपड़ इत्यादि खेलना।

उपकरण

(१) मोरपखी—प्रथम दिन चढाये हुए पुष्पादि को हटाना प्रमार्जन करना।

(२) खसकूंची जो चन्दन कपड़े से साफ नहीं होता उसे हल्के हाथों से खसकूंची द्वारा उतारा जाता है। इसका उपयोग अनावश्यक नहीं करना।

(३) अंगलूहणा भगवान का प्रक्षाल करने के बाद पानी पोंछने के लिये चाहिये। ये तीन होते हैं, तीन बार करने पर गीलास नहीं रहती।

(४) सलाई—मूर्ति में कई स्थान ऐसे हैं जहाँ से पानी चन्दनादि सरलता से नहीं निकाला जा सकता। उस पानी को निकालने के लिए सलाई का उपयोग है।

(५) विशेष सूर्योदय के पश्चात् ही भगवान का प्रक्षाल करना चाहिये। पोंछते समय पानी कहीं भी न रहे। अन्यथा जीवोत्पत्ति की सम्भावना है।

गुरुतत्त्व

श्रद्धा एव आराधना का दूसरा स्थान गुरु है। गुरु "मनुष्य के हृदय के अंधकार को दूर करने वाला है।" मानव मन के अज्ञानान्धकार को दूर कर ज्ञान का प्रकाश फैलानेवाला गुरु होता है। विषय-कषाय के विकारों मे भटकते हुए प्राणियो को मार्ग बतानेवाला गुरु ही है। तीर्थंकर मार्ग-प्रवर्तक है, किन्तु हमारे लिए उसमार्ग को बतानेवाले प्रत्यक्ष उपकारी गुरु ही हैं।

सच्चे गुरु वही हैं, जो जिन भगवान के द्वारा प्ररूपित शास्त्रों मे बताए हुए आत्मा से परमात्मा बनने के आदर्श को सामने रखकर अपने विशुद्ध आचरण तथा ज्ञान से उस आदर्श को प्राप्त करने में प्रयत्नशील हों। मोहमाया से भरे हुए ससार का त्यागकर जीवन भर के लिये अहिंसादि महाव्रतों एव पचाचार का पालन करते हैं। धर्म की साधना मे निमित्त भूत शरीर को टिकाये रखने के लिये मधूकरी वृत्ति द्वारा आहार ग्रहण करते हैं कंचन कामिनी के सर्वथा त्यागी होते हैं। गाँव-गाँव पैदल हीं भ्रमण करते हैं। ज्ञान-ध्यान-स्वाध्याय आदि सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्र की आराधना स्वय करते हैं और सदुपदेश द्वारा दूसरों से करवाते हैं। दाढी-मूछ एव सिर के बालों का हाथों से लोच करते हैं।

पाँच महाव्रत

(१) अहिंसा मनसा, वाचा एव कर्मणा किसी भी जीव की हिंसा न स्वय करना, न दूसरों से कराना, न करनेवाले का अनुमोदन समर्थन करना।

(२) असत्य मनसा, वाचा, कर्मणा न स्वयं झूठ बोलना, न दूसरों से बुलवाना, न बोलनेवालों का अनुमोदन करना।

(३) अचौर्य मनसा, वाचा, कर्मणा न स्वयं चोरी करना, न दूसरों से करवाना, न करते हुए का अनुमोदन ही करना।

(४) ब्रह्मचर्य मनसा, वाचा कर्मणा न स्वयं मैथुन सेवन करना, न दूसरों से करवाना, न करते हुए का ही अनुमोदन करना।

(५) अपरिग्रह मनसा, वाचा, कर्मणा न स्वयं परिग्रह रखना, न दूसरों से रखवाना, न रखने वालों का ही अनुमोदन करना।

इन पंच महाव्रतों का सम्पूर्ण पालन करते हुए १० यतिधर्म का पालन एवं २२ परिषहों को शान्तिपूर्वक सहन करते है। इस प्रकार जैन साधु का जीवनतप-त्यागमय कठोर जीवन है। आज उसकी समानता का दूसरा-जीवन अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हो सकता। यही कारण हैं कि जैन-साधु सख्या मे बहुत थोड़े हैं।

ऐसे साधु ही गुरु बनने योग्य हैं। इनके वन्दन, सेवा, सत्सग से आत्मा पवित्र बनती है। नवकारमत्र मे जो पचपरमेष्ठी है, उनमें से अरिहत और सिद्ध को छोड़कर शेष तीन-आचार्य, उपाध्याय एवं साधु 'गुरुतत्व' के अन्तर्गत आते हैं।

गुरुवन्दन :

गुरु महाराज के पास जाकर सर्व-प्रथम अजलि मस्तक पर लगाकर सहज झुककर 'मत्थएण वदामि' कहना। ब्रह्मचारी एव संयमी मुनि के दर्शन से हृदय मे अपूर्व आनन्द होना चाहिये। दो खमासमण (पंचाग प्रणिपातपूर्वक) देने के बाद "इच्छाकार सुहराई सुहदेवसि" सूत्र बोलकर सुखशाता पूछना एवं भात पानी ग्रहणके लिये बोनती करना। तत्पश्चात् यदि गुरुमहाराज पदस्थ (आचार्य-उपाध्याय-गणि इत्यादि तथा साध्वीजी प्रवर्तिनी) हो तो एक खमासमण और देकर, यदि पदस्थ न हो तो सीधा ही "अब्भुट्ठिया" जमीन पर सिर-हाथ पर रखकर बोलना इसमे गुरु

को अवश्य आलोचना का मिथ्यादुष्कृत दिया जाता है। फिर इच्छानुसार प्रत्याख्यान- "इच्छाकार भगवान पसाय करी पच्चक्खाण करावोजी" कह कर यथाशक्ति पच्चक्खाण लेना। फिर एक खमासमण द्वारा पचांग प्रणिपात करना।

सूत्रादि का ज्ञान या पच्चक्खान लिया जाय वह वन्दना करके ही लियाजाय व्याख्यान मे भी वन्दना करके फिर ही सुनना। गुरु की किसी तरह की आशातना न हो इसका पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। गुरु की निन्दा या उनके विरुद्ध एक शब्द भी मुंह से स्वयं न निकालें। न निन्दा सुनें। ये अविनयादि महान् पाप है। अन्न, पान, वस्त्र, पात्र औषधि, पुस्तकादि आवश्यक वस्तु देकर उनकी संयमाराधना में सहयोगी बनें। गुरु, साधु-साध्वी की सेवा-भक्ति की जाय। उनसे स्वयं ज्ञान-धर्म क्रियादि का लाभ उठावें। एव दूसरों को भी प्रेरणा देकर उनके सम्पर्क-सत्संग मे लाकर लाभान्वित किया जाया। उनके विहार के समय में विशेष सेवा का ध्यान रखा जाय, पढाने मे विशेष सहयोग दिया जाय देवदर्शन पूजन की तरह गुरुदर्शन व सेवा भी नित्य नियमित व निरन्तर कर्त्तव्य है।

—❀

धर्मतत्व

जो दुख से, दुर्गति से, पापाचार से या पतन से बचाकर आत्मा को ऊँचा उठाने वाला है, धारण करने वाला है, वह धर्म है। जिससे किसी को दुख न पहुँचे, ऐसा अच्छा विचार और अच्छा आचार ही सच्चा धर्म है। जैन धर्म इसलिए ही सच्चा धर्म है कि उसके आचार और विचार उच्च कोटि के हैं। तथा उसके आचार विचारों के ऊँचे होने का यह कारण है कि-वह वीतराग-सर्वज्ञ भगवान् द्वारा प्रतिपादित धर्म है। वीतराग होने से उनके द्वारा बताये हुए तत्वों के असत्य होने की कोई सभावना नहीं रहती तथा सर्वज्ञ होने से तीनों काल की परिस्थिति को प्रत्यक्ष देखते हैं अतः आत्मा, कर्म और धर्म के बारे मे उन्होंने जो कुछ बताया है। वह सत्य है। उनके द्वारा बताये हुए धर्म का अनुसरण करने से प्रत्यक्ष मे भी दोष दुष्कृत्य, चिन्ता एव अशान्ति घट कर आत्मा का क्रमिक विकास होता दिखाई देता है, तथा सच्ची सुख शान्ति बढती हैं। भवान्तर मे सद्गति और सत् सामग्री की प्राप्ति होती है। इस तरह जीव आगे से आगे बढता हुआ आत्म विकास करता है।

धर्म के दो पक्ष हैं (१) विचार पक्ष (२) आचार पक्ष। पहिला विचार पक्ष सम्यग् ज्ञान स्वरूप है। दूसरा आचारपक्ष-सम्यक् चारित्र रूप है। अब इसके बाद सम्यग्ज्ञान एव सम्यक् चारित्र का विस्तार पूर्वक विचार करेंगे।

विचार पक्ष :

सम्यग्ज्ञान ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक-गुण है स्वाभाविक गुण उसे कहा जाता है, जो अपने आश्रयभूत द्रव्य का परित्याग न करें। ज्ञान के अभाव मे आत्मा की कल्पना ही नहीं हो सकती। वस्तुओं का बोध करना, जानना यह आत्मा का मौलिक स्वभाव है। इसी के कारण आत्मा और जड़ का भेद निश्चित होता है। यदि ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण न हो तो जीव और जड़ मे क्या अन्तर होगा ?

वस्तु के स्वरूप को जानना ज्ञान है, किन्तु वह सच्चा भी होता है। और झूठा भी हो सकता है। अतः सम्यग्ज्ञान वही है, जो वस्तुस्वरूप को यथार्थरूप से जानता है, सच्चे रूप से समझता है। अर्थात् जीव, अजीवादि नौतत्वों को यथार्थ रूप से जानना ही सम्यग्ज्ञान है। यह ज्ञान अरिहन्तदशा में ही पूर्णरूप से प्राप्त होता है। जब आत्मा राग-द्वेष का क्षय कर केवलज्ञानी बन जाती है, तभी वह पूर्णरूप से सम्यग्ज्ञानी बनती है।

सम्यग्ज्ञान दो प्रकार का है १ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष।

(१) प्रत्यक्षज्ञान जो इन्द्रियां एव मन के बिना ही सीधा आत्म-शक्ति से ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान है।

(२) परोक्षज्ञान—जो इन्द्रियादि साधन द्वारा होता है वह।

परोक्षज्ञान के दो प्रकार हैं। मतिज्ञान व श्रुत ज्ञान। प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन प्रकार हैं, अवधिज्ञान मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान।

१. मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होने वाला ज्ञान। इन्द्रियों के द्वारा तो, रूप, सख्या, आकृति गन्ध, रस, स्पर्श एव शब्द का ज्ञान होता है। तथा मन के द्वारा चिन्तन, स्मरण, तर्क अनुमान आदि किया जाता है। जैसे—चिन्तन मुझे यह करना है। स्मरण मैंने कल यह खाया था। तर्क—धूँआ आग से पैदा होता है। अत: जहाँ-जहाँ धूँआ है, वहाँ-वहाँ आग है। आदि।

मतिज्ञान की चार कक्षायें हैं १. अवग्रह २. ईहा ३. अपाय एवं धारणा। 'यह कुछ है' ऐसा भान होना अवग्रह है। जैसे किसी की आवाज कान पर पड़ते ही यह भान होना कि, कोई आवाज लगा रहा है। इसके पश्चात् यह आवाज किसकी है ? उसकी नहीं, किन्तु उसकी होगी। इस तरह का उहापोह' ईहा है। उसके पश्चात् निर्णय करलेना कि यह आवाज उसी व्यक्ति की है, यह 'अपाय' है। और उसी निर्णय को दिल मे दृढ़ता से रखना 'धारणा' है।

अवग्रह के भी दो भेद है 'कोई आवाज लगा रहा है' इसके पहले शब्दों का श्रोत्र (कान) से सम्पर्क होना आवश्यक है। क्योंकि सम्पर्क के अभाव में 'कोई आवाज लगा रहा है' यह ज्ञान नहीं हो सकता। शब्दों का कान पर आकर टकराने से भी चेतना जाग्रत होती है अतः बाद मे 'कोई आवाज लगा रहा है' यह भान होता है। इसीलिये शब्दों के टकराने को भी व्यंजनावग्रह ज्ञान माना गया है। शब्द तो भीत पर टकराता है। किन्तु भीत पर ऐसा कुछ भी नहीं होता। अतः इससे यह सिद्ध होता है कि प्राणी की इन्द्रिय से शब्द टकराने में और भीत से शब्द के टकराने मे अन्तर है प्राणी की इन्द्रियों से टकराना, टकराना ही नहीं है वरन् अव्यक्त ज्ञान है। व्यंजनावग्रह नेत्र और मन के सिवाय चार इन्द्रियों का होता है। क्योंकि नेत्र और मन पदार्थ को बिना छुए ही ग्रहण कर लेते हैं।

चिन्ता भविष्य का विचार, स्मृति भूतकाल का स्मरण, मति वर्तमान का विचार। तर्क यह है तो वह होना ही चाहिये। प्रत्यभिज्ञा यह वही व्यक्ति है, जिसे मैंने कलकत्ता में देखा था। इत्यादि मतिज्ञान के ही पर्याय हैं।

२. श्रुतज्ञान—उपदेश सुनने से या शास्त्र पढने से जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान कहलाता है। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। इसका यह अर्थ है कि—शब्द सुनना या पढना तो मतिज्ञान हुआ, उसके बाद मन

के द्वारा मनन होने पर जो पदार्थ-बोध होता है, वह 'श्रुतज्ञान' है। श्रुतज्ञान मे अन्य चार ज्ञानों की अपेक्षा एक विशेषता यह है कि चार ज्ञान मूक है, जबकि श्रुतज्ञान मुखर है। चार ज्ञानों से वस्तु स्वरूप का अवबोध तो हो सकता है किन्तु वस्तु-स्वरूप का कथन नहीं हो सकता। वस्तु स्वरूप के कथन की शक्ति श्रुतज्ञान मे ही होती है। क्योंकि श्रुतज्ञान शब्द प्रधान है। श्रुतज्ञान के मुख्य दो भेद है १. अगबाह्य २. अग-प्रविष्ट। 'आवश्यक' आदि के रूप मे अगबाह्य अनेक प्रकार का है और अगप्रविष्ट के 'आचाराग' आदि बारह भेद है।

पैंतालीस आगम श्रुतज्ञान के दो प्रकारों मे समाविष्ट होते हैं। तीर्थंकर भगवान सर्वज्ञ बनने के बाद अपने गणधर शिष्यों को, उप्पन्नेइ वा (पदार्थ उत्पन्न होते हैं) विगमेइ वा (नाश होते हैं) तथा धुवेइ वा (कुछ समय स्थिर रहते हैं) ये तीन पद (त्रिपदी) देते हैं। गणधर भगवान अपनी विशिष्ट बुद्धि एव भगवान के सान्निध्य के कारण बारह अंगों की रचना करते हैं। बारह अंग ये हैं।

पैंतालीस आगम ग्यारह अंग

१. आचाराग २. सूत्रकृताग ३. स्थानांग ४. समवायांग ५. भगवती सूत्र (६) ज्ञाता धर्मकथा (७) उपासकदशा (८) अन्तकृद्दशा (९) अनुत्तरोपपातिक (१०) प्रश्नव्याकरण (११) विपाक (१२) दृष्टिवाद इस बारहवें सूत्र मे चौदह पूर्वों का समावेश था। किन्तु भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् करीब एक हजार वर्ष बाद मे दृष्टिवाद का विच्छेद हो गया। अतः अब ११ अंग ही रहे हैं।

बारह उपांग

(१) उववाई (२) रायपसेणी (३) जीवाभिगम (४) पन्नवणा (५) जम्बूदीवप्रज्ञप्ति (६) चन्द्रप्रज्ञप्ति (७) सूर्यप्रज्ञप्ति (८) कप्पिया (९) कप्प-विडिंसिया (१०) पुप्फिका (११) पुप्फचूलिका (१२) वह्निदशा।

छः छेदग्रन्थ —

(१) व्यवहारसूत्र (२) बृहत्कल्प (३) दशाश्रुतस्कंध (४) निशीथ (५) महानिशीथ एवं (६) जीतकल्प ।

दस पयन्ना।

(१) चउशरणपयन्ना (२) सथारपयन्ना (३) तन्दुलवैकालिक (४) चन्द्रविद्या (५) गणिविद्या (६) देवेन्द्रस्तव (७) आतुर प्रत्याख्यान (८) महाप्रत्याख्यान (९) भक्त प्रत्याख्यान (१०) गच्छाचारप्रकीर्णक ।

मूल सूत्र

(१) आवश्यक (२) उत्तराध्ययन (३) ओघनिर्युक्ति (४) दशवैकालिक (५) अनुयोगद्वार (६) नन्दिसूत्र ।

पचांगी इन आगमसूत्रों पर श्रुतकेवली चौदहपूर्वधर भद्रबाहु स्वामी ने प्राकृत मे श्लोक-गाथाबद्ध विवेचना की है, वह 'निर्युक्ति' कहलाती है। उसपर पूर्वधरों ने जो श्लोकबद्ध विवेचना की वह 'भाष्य' कहलाता है। सूत्र, निर्युक्ति और भाष्य पर आचार्य भगवंतों ने जो प्राकृत-सस्कृत मे विवेचन लिखा है, वह चूर्णि एवं टीका कहलाती है। इस तरह १ सूत्र और २— निर्युक्ति ३ भाष्य ४ चूर्णि एव ५ टीका यह पचांगी कहलाती है।

इसके अलावा भी प्रकरण, न्याय, दर्शन, व्याकरण, साहित्य, छन्द अलकार, ज्योतिष, योग, आदि विषयों पर विद्वान आचार्यों ने कई ग्रन्थों की रचना की है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन भेद हैं। १ अवधि २ मन पर्यव और ३ केवलज्ञान।

३ अवधिज्ञान अवधि का अर्थ है सीमा। जिस ज्ञान की सीमा हो अर्थात् जो मर्यादा मे रहे हुए रूपी पदार्थों का अवबोध, इन्द्रिय आदि की अपेक्षा के बिना ही कराता हो वह अवधि ज्ञान कहलाता है। अवधिज्ञान के दो भेद हैं —१. भवप्रत्यय २. गुणप्रत्यय।

१. भवप्रत्यय जो अवधिज्ञान विना किसी साधना के मात्र जन्म के साथ ही प्रकट होता है। उसे भव प्रत्यय कहते हैं। यह ज्ञान देव और नारक को होता है।

२ गुण-प्रत्यय जो अवधिज्ञान किसी साधना-विशेष से प्रकट होता है, उसे गुण-प्रत्यय कहते हैं।

किसी को अवधिज्ञान ऐसा होता है कि एक बार होकर पुनः नष्ट हो जाता है। किसी को स्थायी रहता है। वे क्रमश: प्रतिपाती और अप्रतिपाती कहलाते हैं। कोई अवधिज्ञान जहाँ जीव जाता है, वहाँ उसके साथ जाता है, जबकि कोई उत्पत्ति क्षेत्र तक ही सीमित रहता है। वे अनुगामी और अननुगामी हैं। कोई अवधिज्ञान होने के वाद बढ़ता जाता है और कोई घटता जाता है। उन्हें वर्धमान और हीयमान कहा जाता है। इस तरह अवधिज्ञान छ प्रकार का है।

नोट : पूर्वोक्त तीनों ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ हैं। तब तो ज्ञान है, किन्तु यदि मिथ्यात्व के साथ हैं तो वे अज्ञान हो जाते हैं। 'अज्ञान' इसलिये है कि उनमें अपने विषयों का यथार्थ अववोध नहीं होता किन्तु विपरीत होता है। अतः ये तीनों क्रमशः मति अज्ञान, श्रुतअज्ञान एवं विभंगज्ञान कहलाते हैं।

यद्यपि एकेन्द्रियादि मे मन न होने से मननरूप मतिज्ञान एवं श्रवणकर चिन्तन के द्वारा अर्थ को जानने रूप श्रुतज्ञान सभव नहीं होता तथापि वे संवेदनात्मक होते हैं। एकेन्द्रियादि में ज्ञान तो नहीं होता किन्तु अज्ञान होता है।

४. मनःपर्यवज्ञान मनुष्यों के मन के चिन्तित अर्थ को जाननेवाला ज्ञान। मन पौद्गलिक (भौतिक) द्रव्य है। जब व्यक्ति किसी विषय का विचार करता है तब उसका मन तदनुसार पर्यायों मे परिवर्तित होता रहता है। मनःपर्यायज्ञानी मन की उन पर्यायों (आकारों) का साक्षात्कार करता है। उन आकारों से वह जान सकता है कि अमुक व्यक्ति किस समय क्या सोचता है। मनःपर्यायज्ञानी मन के परिणमन का

साक्षात् प्रत्यक्ष करके मनुष्य के चिन्तित अर्थ को जान लेता है। मन:-पर्यायज्ञान के दो भेद हैं ऋजुमति एवं विपुलमति। ऋजुमति की अपेक्षा विपुलमति का ज्ञान विशुद्धतर होता है। क्योंकि विपुलमति मन के अतिसूक्ष्म-परिणामों को भी जान सकता है। दूसरा, ऋजुमति प्रति-पाती (आकर वापिस चला जानेवाला) होता है और विपुलमति अप्रतिपाती।

किन्तु यह ज्ञान मनुष्यगति के अतिरिक्त अन्य किसी गति मे नही होता है। मनुष्य मे भी संयमी साधुओ को ही होता है। असंयमी को नहीं। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये सयम की विशुद्धि आवश्यक है।

यह ध्यान देने योग्य है कि अवधि और मन पर्यव प्रत्यक्ष अवश्य है क्योंकि ये दोनों ज्ञान सीधे आत्मा से ही होते हैं। इनके लिये इन्द्रिय और मन की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती। किन्तु ये विकल प्रत्यक्ष है। क्योंकि अवधि रूपी पदार्थों का ही प्रत्यक्ष करता है। और मन:पर्याय केवल मन की पर्यायों को ही जानता है। अतः सकल-प्रत्यक्ष तो केवलज्ञान ही है।

५. केवलज्ञान—यह परिपूर्ण ज्ञान है। आत्मा की ज्ञान-शक्ति का पूर्ण विकास हो जाना, उसका सर्वथा अनावृत हो जाना केवलज्ञान है। इसके प्रकट होते ही, शेष ज्ञान नष्ट हो जाते हैं। केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान है। अत: उसके साथ मति आदि अपूर्ण ज्ञान नहीं टिक सकते। केवलज्ञान मे अतीत, अनागत और वर्त्तमान के अनन्त-पदार्थ और प्रत्येक पदार्थ के अनन्तगुण और पर्याय प्रतिक्षण प्रतिबिम्बित होते रहते हैं। केवल-ज्ञान, देश, काल की सीमा बन्धन से मुक्त होकर रूपी एव अरूपी समग्र अनन्त पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है। अत उसे सकल प्रत्यक्ष कहते हैं।

जीवादि नवतत्त्वों पर श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है और उन्हें जानना सम्यग्ज्ञान है। अतः सम्बन्धक्रम से अब जीवादि नवतत्त्वों का स्वरूप बताना आवश्यक है। इसमें जीव-अजीव आदि क्या है उनका क्या स्वरूप है? इत्यादि बातों का विवेचन किया जाता है।

नवतत्व

जैन दर्शन मे पदार्थ या वस्तु को तत्व कहा गया है। लाक्षणिक अर्थ में वस्तु स्वरूप (तत्+त्व) होने के साथ 'सत् से युक्त तत्व के तीन लक्षण हैं

उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य।[1] अर्थात् उत्पत्ति, नाश एव ध्रुव गुण धारण करने वाला तत्व है। यह तत्व (सत् सहित) अनादि एवं अनन्त है। जो सर्वथा असत् है वह तत्व नहीं हो सकता।[2] सार, भाव या रहस्य को भी तत्व का पर्यायवाची कह सकते हैं परन्तु वास्तव मे सद्भूत वस्तु को ही तत्व कहते हैं।[3] तत्व नवीन पर्यायों की उत्पत्ति एव पुरानी अवस्था का विनाश होने पर भी अपने स्वभाव का त्याग नहीं करता।

आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा ही मुख्य तत्व है जो पूर्ण एवं शुद्ध अवस्था में परमतत्व से विभूषित हो परमात्मा है और कर्मयुक्त होकर संसारी रूप मे विविध योनियाँ धारण करता है।

तत्व को कई रूपों मे वर्गीकृत एवं विभाजित किया जा सकता है

प्रथम शैली—(१) जीव (२) अजीव।

द्वितीय शैली (१) जीव (२) अजीव (३) आश्रव (४) संवर (५) बंध (६) निर्जरा (७) मोक्ष इसमे पुण्य और पाप इन दोनों को और जोड़ देने से नव तत्व बन जाता है।

तृतीय शैली (१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आश्रव (६) संवर (७) निर्जरा (८) बंध (९) मोक्ष।

उपरोक्त वर्गीकरण में भी जीव एवं अजीव मुख्य तत्व है जो अन्य तत्वों के आधार हैं। जीव पुद्गल (अजीव) के सयोग-वियोग से विविध

१ उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त सत्। तत्वार्थसूत्र ५।३०

२ सद् दव्वं वा। भगवती सूत्र ८/९

३ "तस्य भाव' तत्वम्"

संयम धारण करते हुए निरन्तर आत्मनिष्ठ होकर विकास की ओर बढ़ता जाय तो परम और चरम तत्व मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। प्रथम शैली के विभाजन से यह संसार षड्द्रव्यात्मक कहा जा सकता है :

जीव अजीव
(१) (२)
धर्मास्तिकाय
अधर्मास्तिकाय
आकाशास्तिकाय
पुद्गलास्तिकाय
काल

द्वितीय शैली मे पुण्य एव पाप को स्वतन्त्र तत्व न मान कर आस्रव अर्थात् जीव के आश्रित माना है। अतः तत्वों की संख्या सात ही रह जाती है। तृतीय शैली मे तत्व नव माने गये हैं। इसमे से जीव एवं अजीव ये दो तत्व धर्मी हैं। अर्थात् आश्रव आदि तत्वों के आधार हैं। और शेष उनके धर्म हैं। इनको पुनः तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है :

ज्ञेय = जानने योग्य—जीव, अजीव। उपादेय=ग्रहण करने योग्य संवर, निर्जरा, मोक्ष। हेय = त्याग करने योग्य आश्रव, बंध, पुण्य पाप। उक्त तत्त्वों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है :

१. जीव :—जीव का लक्षण उपयोग अर्थात् चेतना है। उपयोग के दो भेद हैं (१) साकारोपयोग (ज्ञान) और (२) निराकारोपयोग (दर्शन) अतः जिसमे ज्ञान और दर्शन रूप उपयोग पाया जाय, वह जीव है।

जीव सुख दुख और अनुकूलता-प्रतिकूलता की अनुभूति करने में सक्षम है। इसलिए इसे चेतन कहा गया है। स्व पर का ज्ञान, विवेक आदि गुण अन्य पदार्थों मे नही पाये जाते हैं। जीव को सत्व, प्राणी, भूत, आत्मा आदि शब्दों से भी जानते हैं।

जीव :—जीव के मूलतः दो भेद होते हैं :—

जीव

१. ससारी
(जो कर्मों से लिप्त हैं और गतियों मे भ्रमण कर रहे हैं)

२. सिद्ध
(जो कर्मरहित हैं और शुद्ध चेतन स्वरूप मे रमण करते हैं)

ससारी जीवों को पुनः सक्षिप्त वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है :—

स्थावर (एकेन्द्रिय)
(जो एक स्थान पर स्थिर हैं हलन चलन की क्रिया नहीं कर सकते)

त्रस
(द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय)

पृथ्वीकाय
(पृथ्वी ही जिनका काय या शरीर हो)

अपकाय
(जल हीं जिनका शरीर हो)
(भेदोपभेद पृथ्वीकाय के अनुसार)

तेजस्काय
(अग्नि ही जिनका शरीर हो)
(भेदोपभेद पूर्ववत्)

वायुकाय
(वायु ही शरीर हो)
(भेदोपभेद पूर्ववत्)

वनस्पतिकाय
(वनस्पति ही शरीर हो)

सूक्ष्म — पर्याप्त, अपर्याप्त

बादर — पर्याप्त, अपर्याप्त

स्थावर जीव एकेन्द्रिय होते हैं अतः उनके धर्म अर्थात् त्वचा रूप इन्द्रिय के अतिरिक्त इन्द्रियां नहीं होती। जो हमारी आंखों से दिखाई नहीं देते वे सूक्ष्म हैं और जो हमे दृष्टिगोचर होते हैं वे बादर हैं। जिनको आहार, शरीर, भाषा आदि पर्याप्तियां पूर्ण प्राप्त हो वे पर्याप्त और जिन्हें प्राप्त न हो सके वे अपर्याप्त कहलाते हैं।
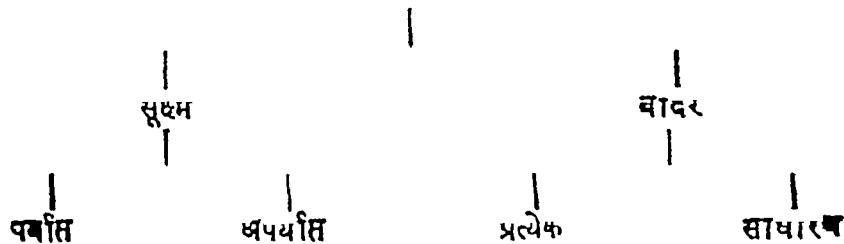
प्रत्येक एक शरीर मे एक जीव हो।

साधारण एक औदारिक शरीर मे अनन्त जीव एक साथ जन्म लें, आहार ले और श्वासोच्छ्वास करें इनके अनेक प्रकार हैं। जैसे प्याज, आलू, रतालू, गाजर, अदरख आदि।

प्रत्येक वनस्पति के बारह भेद हैं

१. रुक्खा (वृक्ष) दो प्रकार के होते हैं—

(क) एगट्ठिया=एक गुठली वाले, जैसे आम, नीम, जामुन, नारियल आदि।

(ख) बहुबियगा = बहुबीजी, जैसे अमरूद, अनार, अंजीर, सीताफल आदि।

२ गुच्छा— बैगन, टींडोरी, तुलसी आदि।

३ गुम्मा (गुल्म)—गुलाब; जूही, चम्पा, मोगरा, मरवा आदि।

४ लया (लता)—पद्म लता, अशोकलता, नागलता,

५ वल्ली (वेल) तोरइ, तुम्बी, करेला, अंगूर।

६ पव्वगा (पर्व=गांठ मे बीज) गन्ना, बेंत आदि।

७ तणा (तृण) —दूब, कुश।

८ वलया (गोलाकार) तमाल, नारियल, खजूर।

९ हरिया (हरी काम वाली शाक भाजी) मेथी, पालक, बथुआ।

१० ओसहि (औषधि) गेहूँ, जौ, मूग, उड़द।

११ जलरुहा (जल में उत्पन्न होने वाली वनस्पति) उत्पल, कमल पुंडरीक कमल, सिंघाड़ा।

१२ कुहणा—भूमि को फोड़कर पैदा होनेवाली वनस्पति जैसे भूफोड़ा आदि।

द्वीन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस कहलाते हैं। चूँकि ये जीव अपने हिताहित हेतु स्थान परिवर्तन करते हैं अतः गतिशील हैं और त्रस कहे जाते हैं। त्रस के भेद इस प्रकार हैं

१ द्वीन्द्रिय —स्पर्श (शरीर) एव रसन (जीभ) इन्द्रियों वाले जीव जैसे लट, शंख, जोंक आदि।

२ त्रीन्द्रिय स्पर्श, रसन एव घ्राण इन्द्रियों से युक्त जीव जैसे जू, लीख, कीड़ी, चींटी आदि।

३ चतुरीन्द्रिय स्पर्श, रसन, घ्राण एवं चक्षु इन्द्रियों वाले जीव जैसे मक्खी, मच्छर, बिच्छू भंवरा आदि।

४ पंचेन्द्रिय स्पर्श, रसन, घ्राण, चक्षु एव श्रोत्र इन पांचों इन्द्रियों वाले जीव जैसे पशु-पक्षी, मनुष्य नारक एव देवता।

एकेन्द्रिय से चतुरीन्द्रिय तक के जीव (तिर्यंच) मन रहित होते हैं अतः असंज्ञी (अमनस्क) कहलाते हैं और पंचेन्द्रिय तिर्यंच मन वाले होने से संज्ञी कहलाते हैं। इसी प्रकार गर्भज मनुष्य, औपपातिकदेव और नारक जीव भी मन वाले होने के कारण संज्ञी कहलाते है।

तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवों के पाँच प्रकार हैं

१ जलचर जल मे रहने वाले जीव जैसे मछली, कछुए, मगर, ग्राह।

२ स्थलचर

(i) ठोसखुर वाले (एगखुरा) घोड़ा, गधा।

(ii) दो खुर वाले (बिखुरा) भैंस, बकरी, ऊंट।

(iii) कई खुर वाले (गंडीपया) हाथी।

(iv) सण्णफया=नख वाले पंजे जैसे सिंह, चीता, बिल्ली, कुत्ता।

३ नभचर आकाश मे उड़ने वाले।

(i) चर्मपक्षी झिल्लीदार पंख। चिमगादड़, भारंड पक्षी।

(ii) रोमपक्षी रोंए के पंख। चिड़िया, कबूतर, मोर, तोता, मैना।

(iii) समुग्ग पक्षी डिब्बे की तरह बंद पंख वाले

(iv) वितत पक्षी सदा पंख खुले हुए।

समुग्ग पक्षी और वितत पक्षी ढाई द्वीप मे नहीं होते हैं।

४ उर परि सर्प (छाती के बल चलने वाली सर्प जाति)

(i) अहि (अ) फण करने वाले आशी विष, उग्र विष आदि।
(आ) फण नहीं करने वाले- दिव्वागा, गोणसा।

(ii) निगल सकने वाले ‿अजगर।

(iii) असालिया। गाँव या नगर का नाश करने वाले।

(iv) महोरग (ढाई द्वीप के बाहर)।

(v) भुजपरिसर्प भुजा से चलने वाले जैसे नेवला, चूहा, छिपकली आदि।

ज्ञातव्य है कि जैन दर्शन मे जीवों का वैज्ञानिक और विस्तृत वर्गीकरण किया गया है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों मे वनस्पति के बारे में वैज्ञानिक विश्लेषण के बाद आज सभी मानते हैं कि वनस्पति मे भी जान है परन्तु शताब्दियों पूर्व पेड़-पौधों मे चेतना बताकर प्रभु महावीर ने हमे अहिंसा का महत्व बताया था। इसी प्रकार नारकों जीवों के भेद मनुष्य व देवता के भी भेद बताकर जीव का स्वरूप बताया गया है।

(द्रष्टव्य उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३६)

अजीव

अजीव को जड़ और अचेतन भी कहते हैं। जो चेतना रहित है और सुख-दुःख की अनुभूति नहीं करता उसे अजीव कहते हैं। इनमें मूर्त और भौतिक पदार्थ जैसे चूना, चांदी, सोना, ईंट आदि और अमूर्त तथा अभौतिक पदार्थ जैसे काल, धर्मास्तिकाय आदि का समावेश हो जाता है।

अजीव के पाँच भेद हैं

१ पुद्गल जो स्पर्श, गंध, रस एवं वर्ण से युक्त हो और पूरण तथा गलन पर्यायों से युक्त हो पुद्गल है। परस्पर मिलना, बिखरना, सड़ना, गलना आदि पुद्गल की क्रियाएँ हैं।

पुद्गल के चार भेद हैं।

स्कन्ध परस्पर बद्ध प्रदेशों का समुदाय।

देश स्कन्ध का एक भाग।

प्रदेश स्कन्ध या देश से मिला हुआ द्रव्य का सूक्ष्म भाग।

परमाणु पुद्गल का सूक्ष्मतम अंश (परम+अणु) जिसका अन्य विभाग न किया जा सके।

अन्धकार, छाया, प्रकाश, शब्द आदि पुद्गल की अवस्थाएँ हैं। पुद्गल सदा गतिशील रहता है और जीव से मिलकर तदनुसार गति प्रदान करता है। पुद्गल के चार धर्म हैं जिसके निम्न भेद हैं

स्पर्श (८) मृदु, कठिन, गुरु, लघु, शीत, उष्ण, स्निग्ध एव रुक्ष।

रस (५) तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर, कषैला।

गंध (२) सुगन्ध, दुर्गन्ध।

वर्ण (५) नील, पीत, शुक्ल, कृष्ण, लोहित।

२ धर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गल द्रव्यों का गति करने मे सहायक द्रव्य को धर्मास्तिकाय कहा जाता है। यह गति का प्रेरक नहीं, सहायक तत्व है। जिस प्रकार मछली के लिए जल सहकारी है उसी प्रकार धर्मास्तिकाय है। इसके तीन भेद हैं स्कन्ध, देश और प्रदेश।

३. अधर्मास्तिकाय—जीव और पुद्गल को गतिशीलता से स्थिर होने या ठहरने में सहायक द्रव्य को अधर्मास्तिकाय कहते हैं। इसके भी तीन भेद हैं—स्कंध, देश और प्रदेश।

४. आकाशास्तिकाय जो सब द्रव्यों को अवकाश या आकाश देता है। इसके दो भेद लोकाकाश और अलोकाकाश हैं। लोकाकाश में सभी द्रव्य हैं परन्तु अलोकाकाश में केवल आकाश द्रव्य है इसको भी स्कंध, देश और प्रदेश में विभाजित किया जा सकता है।

५. काल जो द्रव्यों की वर्तना (परिवर्तन) का सहायक है उसे काल द्रव्य कहते हैं। नए, पुराने, बचपन, जवानी आदि की पहिचान काल द्रव्य से होती है। काल अस्ति (सत्ता) तो है परन्तु बहुप्रदेशी न होने के कारण 'काय' रहित है अर्थात् अप्रदेशी है।

जैनागमों में काल को विशेष रूप से निरूपित किया गया है। जहाँ आज संख्याएं दस शंख तक मानी जाती हैं, जैन शास्त्रों में उससे बहुत आगे तक वर्णित हैं। काल की सूक्ष्मतम इकाई 'समय' को माना गया है और आँख झपकने में असंख्यात, समय व्यतीत होते हैं। समय से लेकर वर्ष तक काल की निम्नलिखित पर्यायें हैं :

(समय = सूक्ष्मतम इकाई)

४४४६ आवलिका	=	१ श्वासोच्छ्वास
७ स्वासोच्छ्वास	=	१ स्तोक
७ स्तोक	=	१ लव
७७ लव	=	१ मुहूर्त

(१, ६७, ७७, २१६ आवलिका = १ मुहूर्त)

३० मुहूर्त	=	१ दिन रात
१५ दिन रात	=	१ पक्ष
२ पक्ष	=	१ माह
२ माह	=	१ ऋतु
३ ऋतुए	=	१ अयन
२ अयन	=	१ वर्ष

पुण्य

जो आत्मा को शुभ की ओर ले जाए, पवित्र करे और सुख प्राप्ति का सहायक हो, पुण्य है। पुण्य शुभ योग से बन्धता है। पुण्य का फल मधुर है। इसे बांधना कठिन है और भोगना सहज है।

आत्मा की वृत्तियां अगणित है। अतः पुण्य-पाप के कारणभी अनेक हैं। शुभ प्रवृत्ति पुण्य का और अशुभ-प्रवृत्ति पाप का कारण बनती है। पुण्य नौ प्रकार से बांधा जाता है और ४२ प्रकार से भोगा जाता है।

पुण्य के नौ भेद

१. अन्न पुण्य   अन्न दान।

२. पान पुण्य—जल या पेय दान।

३. लयन पुण्य   स्थान या जगह देना।

४. शयन पुण्य—शय्या, पाट, पाटला देना।

५. वस्त्र पुण्य—वस्त्र दान।

६. मन पुण्य   शुभ चिन्तन, गुणी जन देख प्रसन्नता एव मन का शुभ योग प्रवर्तन।

७. वचन पुण्य   शुभ-हितकारी वचन मधुर वचन।

८. काय पुण्य   शरीर द्वारा जीवों की सेवा और आदि करना।

९. नमस्कार पुण्य   गुणीजनों, गुरुजनों आदि का विनय व नमन।

पुण्य कर्म भोगने की ४२ प्रकृतियाँ

वेदनीय के उदय से   (१) साता वेदनीय = सुख

आयुकर्म   ,,   (३) देव-मनुष्य—तिर्यंच आयु

गोत्रकर्म   ,,   (१) उच्चगोत्र

नामकर्म   ,,   (३७)

गति/जाति   (३)   मनुष्य गति, देव गति एवं पचेन्द्रिय जाति।

शरीर (५) औदारिक-औदारिक (उदर) शरीर मनुष्य, पशुपक्षी आदि।

वैक्रिय—नानाकार शरीर बनाना देवता, नारकी, जीव लब्धिधारी मनुष्य एवं तिर्यञ्च को भी।

आहारक शरीर में से शरीराकार सूक्ष्म शरीर निकालना।

तैजस तपोबल से तेजोलेश्या निकालने की शक्ति।

कार्मण—अष्ट कर्मों के विकार से संबंधित शरीर।

ज्ञातव्य है कि तैजस और कार्मण शरीरों का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनादिकाल से है और मोक्ष पाये बिना अलग नहीं होते।

अंग, उपांग, अंगोपांग (३) अंग भुजा, पैर, सिर, पीठ, आदि।

उपांग—अंगुली आदि।

अंगोपांग—अंगुलियों की पर्व रेखाएँ।

संहनन (१) वज्र ऋषभनाराच विशेष आकार युक्त मजबूत अस्थि रचना।

संस्थान (१) सम-चतुरस्र पर्यंकासनवत् संस्थान युक्त शरीर शुभवर्ण, गन्ध रस स्पर्श, युक्त शरीर (४)

आनुपूर्वी (२) देवानुपूर्वी कर्मक्षय के अंतिम दौर में जीव को अन्यगति की ओर आकृष्ट होते हुए बचा कर देवगति में ले जाना।

मनुष्यानुपूर्वी विग्रह गति के समय पुनः मनुष्य गति में खींचने वाले कर्म पुद्गल।

शुभ विहायोगति (१) हंस, हाथी, वृषभ की चाल।

त्रस दशक (१०) त्रस नाम, बादर नाम, पर्याप्त नाम, प्रत्येक नाम, स्थिर नाम, शुभ नाम, सुभग नाम, सुस्वर नाम, आदेय नाम एवं यशःकीर्ति नाम।

३१. अगुरुलघु ३२. पराघात नाम (अजेय पराक्रम) ३३. आतप नाम ३४. उद्योत नाम ३५. श्वासोच्छ्वास नाम ३६. निर्माण नाम ३७ तीर्थंकर नाम।

पाप

जो आत्मा को पतन की ओर ले जाए, मलीन करे और जिसके कारण दुख की प्राप्ति हो, पाप कहते हैं। अशुभ योगों से बन्ध कर पाप कटु फल प्रदायक है।

पाप उपार्जन के अठारह कारण हैं :

१. प्राणातिपात -जीवों की हिंसा या उन्हें दुख देना।

२. मृषावाद असत्य भाषण।

३. अदत्तादान स्वामी की आज्ञा बिना वस्तु लेना।

४ अब्रह्मचर्य—कुशील सेवन।

५. परिग्रह धन लिप्सा ममत्व।

६. क्रोध कोप एवं गुस्सा।

७ मान अहंकार जिसके कारण चित्त की कोमलता और विनय लुप्त हो जाय।

८. माया छल कपट।

९. लोभ तृष्णा, असंतोष।

१०. राग माया और लोभ के कारण आसक्ति एवं मनोज्ञ वस्तु के प्रति स्नेह।

११. द्वेष—अमनोज्ञ वस्तु से द्वेष। क्रोध एवं मान के वश होकर द्वेष की जागृति।

१२. कलह लड़ाई-झगड़ा।

१३. अभ्याख्यान झूठा दोषारोपण।

१४. पैशुन्य दोष प्रगटन, चुगली।

१५. परपरिवाद दूसरों की बुराई एवं निन्दा करना।

१६. रति अरति सावद्य पापयुक्त क्रियाओं में चित्त लगाना, रुचि एवं निरवद्य शुभ क्रियाओं के प्रति उदासीन अरुचि भाव रहना।

१७. माया मृषावाद कपट युक्त झूठ।

१८. मिथ्यादर्शन कुदेव, कुगुरु, कुधर्म के प्रति श्रद्धा रखना।

पाप का बंधन १८ प्रकार से है तो इसके फल का भोग ८२ प्रकार से होता है।

आश्रव

जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी जल का आ + श्रव अर्थात् प्रवाह होता है। संसारी जीव में प्रतिक्षण मन, वचन, काय के परिस्पन्दन के कारण कर्म पुद्गल का एकीकरण होता है। इसका उदाहरण अनेक छिद्रों वाली नाव को पानी में डालना है मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूपी पांच द्वारों से कर्म, ग्रहण कर आत्मा मल युक्त होती है और तदनुसार विविध जन्म-धारण करती है।

मिथ्यात्व विपरीत श्रद्धा अथवा तत्व ज्ञान का अभाव।

अविरति त्याग के प्रति निरुत्साह एवं भोग के प्रति उत्साह।

प्रमाद मद्य, विषय, निद्रा एवं विकथा युक्त आचरण।

कषाय क्रोध, मान, माया, लोभ की वृत्तियां।

योग मन, वचन, काया की शुभा-शुभ प्रवृत्ति।

संवर

अध्यात्म-साधना में संवर महत्वपूर्ण तत्व है। आत्मा को कर्म बन्धन से मुक्त करने के लिये सर्व-प्रथम आश्रवों को रोकना आवश्यक है। जब-तक आश्रवरूपी द्वार खुला रहेगा, तबतक पूर्व आवद्ध कर्म के साथ नये कर्मों का आना भी चालू रहेगा। यदि पूर्व-कर्म फल देकर आत्मा से पृथक हो भी जाय तो नव अर्जित कर्म अपना प्रभाव डालने को तैयार हो जायेंगे।

इसके मुख्य छः भेद हैं समिति, गुप्ति, परीषह, यतिधर्म, भावना और चारित्र। समिति आदि वास्तविक संवर तभी बन सकते हैं जबकि

वे जिनाज्ञापूर्वक हों। अतः संवर में सम्यक्त्व का समावेश हो ही जाता है। आश्रव का निरोध करना संवर है, अतः सम्यग्दर्शन से मिथ्यात्व आश्रव रुकता है। यति धर्म और चारित्र से अविरति आश्रव रुकता है। गुप्ति, भावना और यतिधर्म से कषाय आश्रव रुकता है। समिति, गुप्ति, परीषह वगैरह से योग और प्रमाद आश्रव रुकता है। इस प्रकार संवर से आश्रव का निरोध होता है।

५ समिति

प्रभु महावीर ने 'जय चरे, जय चिट्ठे' (यतनापूर्वक चलो....यतना पूर्वक बैठो...) के माध्यम से साधु को प्रत्येक प्रवृत्ति यतनापूर्व करने का उपदेश दिया है। अतः विवेक एव ज्ञानपूर्वक प्रवृत्ति करना ही 'समिति' है।

१. इर्यासमिति—जीवदया का ध्यान रखते हुए उपयोग पूर्वक चलना।

२. भाषासमिति हित, मित, सत्य एवं प्रिय वाणी उपयोगपूर्वक बोलना।

३. एषणा समिति विवेक-पूर्वक निरीक्षण कर, निर्दोष आहार-पानी, वस्त्रादि ग्रहण करना।

४. आदान-निक्षेपणा समिति—जीवदया का उपयोग रखते हुए वस्त्र पात्रादि को विवेक पूर्वक रखना एवं उठाना।

५. परिष्ठापनिका समिति मल-मूत्र आदि को निर्जीव स्थान पर विवेकपूर्वक विसर्जन करना।

३ गुप्ति

गुप्ति का अर्थ है गोपन करना....संयमन करना....नियमन करना।

१ मनोगुप्ति अशुभ विचारों से मन को रोकना अर्थात् आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान न करना। धर्मध्यान शुक्लध्यान मे मन को जोड़ना।

२. वचनगुप्ति—दूषित वचन न बोलना निर्दोषवचन भी बिना कारण नहीं बोलना।

३. कायगुप्ति—शारीरिक अशुभ प्रवृत्ति से बचना। निष्कारण शारीरिक क्रिया को रोकना।

१०. यतिधर्म : (१) क्षमा = सहिष्णुता (२) नम्रता = लघुता (३) सरलता (४) निर्लोभता (५) तप (बाह्यअभ्यन्तर) (६) संयम (प्राणि-दया व इन्द्रियनिग्रह) (७) सत्य (निरवद्य भाषा) (८) शौच = मानसिक पवित्रता (९) अपरिग्रह किसी पर भी ममत्त्व न रखना (१०) ब्रह्मचर्य पूर्णरूप से पालन करना।

२२. परीषह भूख-प्यास आदि से जन्य कष्ट को कर्म निर्जरा एवं संयम की दृढ़ता के लिये समतापूर्वक सहन करना परीषह है।

१-५ = भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी एवं मच्छर आदि से जन्य कष्ट को कर्मक्षय में सहायक व सत्ववर्धक मानकर समतापूर्वक सहन करना।

६. अचेलक = जीर्ण-शीर्ण, मल मलिन वस्त्र हो तो भी मन में खेद न करना। अच्छे वस्त्र की चाह न करना।

७. अरति प्रतिकूलता आने पर भी विचलित न होना। किन्तु भावी कर्म-विपाक का विचार कर, 'प्रतिकूलता को सहन कर लेने में महान् लाभ है' यह सोचकर प्रतिकूलता को समभाव पूर्वक सहन करना।

८. स्त्रीपरिषह— स्त्री को देखकर मन को विचलित न होने देना।

९. चर्यापरिषह गांव-गांव विचरण करते हुए रास्ते में कांटे-कांकरे, खड्डे आदि से होने वाले कष्ट को सम्यक् सहन करना।

१०. निषद्या परिषह— श्मशानादि में कायोत्सर्ग आदि करते हुए यदि देव मानव सम्बन्धी उपद्रव हो तो उसे समतापूर्वक सहन करना।

११. शय्या परिषह ऊँचे-नीचे आँगनवाला, धूलवाला, सर्दी-गर्मी के लिये प्रतिकूल उपाश्रय मिले फिर भी आकुल-व्याकुल न होना।

१२-१३ आक्रोश-वध तिरस्कार करने, कटु शब्द बोलने अथवा प्रहार करने पर भी शान्त रहना ।

१४ याचना—संयम के लिये उपयोगी वस्तु की याचना करते हुए शर्म या दीनता न होना ।

१५ अलाभ—उपयोगी वस्तु मांगने पर भी यदि गृहस्थ न दे तो भी मन में रोष या शोक नहीं करना । किन्तु अपने अन्तराय कर्म का उदय है, ऐसा सोचकर शान्त रहना ।

१६-१७-१८ रोग-तृणस्पर्श-मल-परीषह : रोग तृणादि के कठिन स्पर्श एवं मैल आनेपर खेद न करना ।

१९ सत्कार सत्कार-सम्मान मिले तो खुश न होना, न मिले तो नाराज न होना ।

२०-२१-प्रज्ञा-अज्ञान : अच्छी प्रज्ञा हो तो गर्व न करना । ज्ञान न आवे तो दीनता नहीं लाना ।

२२ सम्यक्त्वपरीषह अन्य धर्मों के मन्त्र-तन्त्र चमत्कार आदि को देखकर वीतराग-प्ररूपित धर्म से विचलित न होना किन्तु जैनधर्म मे स्थिर रहना ।

१२ भावना :

आत्म विशुद्धि के लिये पुन पुन' जिनका चिन्तन किया जाय वे 'भावना' है । इन भावनाओं का वार-वार चिन्तन करने से आत्मा सुसंस्कारों से भावित बनती है । राग-द्वेष को परिणति कम होती है । भावना १२ प्रकार की है ।

१ अनित्य भावना राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार ।
मरना सबको एक दिन, अपनी-अपनी वार ॥

जगत् की सारी वस्तुयें एव सारे सयोग अनित्य है । जगत् की कोई भी वस्तु नित्य नहीं है कि जिसे हम अपनी मानकर मोह कर सके । तो फिर मोह क्यों ? अनित्य वस्तुओं के लिये निरर्थक क्लेश एवं पाप-बन्ध

क्यों करें ? जगत् मे एक आत्मा ही नित्य है। अतः उसी के कल्याण की चिन्ता करनी चाहिये।

इस भावना का चिंतन करने से किसी वस्तु या व्यक्ति पर आसक्ति नहीं होती। इष्टवियोग और अनिष्ट सयोग मे आर्तध्यान नहीं होता।

२ अशरण भावना : दलबल देवी देवता, मात-पिता परिवार।
मरती विरिया जीवको, कोई न राखणहार॥

इस जगत मे जीव को, धन, कुटुम्ब आदि कोई भी बचा नहीं सकता। रोग के दुख से, बुढ़ापे के सन्ताप से तथा मृत्यु के आक्रमण से जीव को बचानेवाला इस ससार मे कौन है। सर्वज्ञ द्वारा बताया हुआ धर्म ही उसे शरण दे सकता है। अनाथी मुनि को असाता वेदनीय के भयकर उदय से माता-पिता परिवार, धन-दौलत आदि कोई नहीं बचा सका। यही जीव की अनाथता है, अशरणता है।

३ संसार भावना दाम बिना निर्धन दु.खी, तृष्णावश धनवान।
कहुँ न सुख ससार मे, सब जग देखो छान॥

संसार मे पूर्णतः कोई भी सुखी नहीं है। किसी को जन का दुख है तो किसी को धन का दुःख है। संसार का प्रत्येक प्राणी जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, वेदना, स्वार्थ एव प्रपच के दुःखों से भरा हुआ है। संसार की कितनी विचित्रता है कि माता मरकर पत्नी बन जाती है मित्र मरकर शत्रु बन जाता है। इस प्रकार जब संसार विचित्र एव दुखमय है तो उस पर मोह क्यों? उससे वैराग्य क्यों नहीं होता? यह विचार करना संसार-भावना है।

४ एकत्व भावना आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय।
यों कबहूँ इस जीव को, साथी सगा न कोय॥

जीव अकेला ही जन्म लेता है, और अकेला ही मरता है। अकेला ही कर्म करता है और अकेला ही भोगता है। स्वजन-परिजन आदि कोई भी जीव का सच्चा साथी नहीं है। अतः मेरा........मेरा करके निरर्थक

क्लेश क्यों करना। यह विचारना एकत्व भावना है। इस भावना से असहाय अवस्था में जीव को आत्मबल मिलता है।

५ अन्यत्व भावना जहाँ देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय।
घर सम्पत्ति पर प्रगट ये, पर हैं परिजन लोय॥

माता, पिता, पुत्र, पत्नी आदि का साथ संयोग से होता है और इनका साथ अन्त में छोड़ना ही पड़ता है। आत्मा इनसे सर्वथा पृथक् है, यहाँ तक कि वह अपने शरीर से भी सर्वथा भिन्न है। इनसे उसका कोई हित नहीं होने का। फिर उन पर व्यर्थ मोह क्यों। यह भावना अन्यत्व है।

इससे शरीरादि का राग कम होता है, अतः इन्द्रियों की गुलामी भी छूटती जाती है। फलस्वरूप मैं की अनुभूति एवं उपलब्धि होती है। इससे अपरिमित सुख की प्राप्ति होती है। सुख भौतिक-साधनों पर ही अवलम्बित नहीं है किन्तु सच्चा सुख आत्म-साक्षात्कार में है।

६ अशुचि भावना दीपे चाम चादर मढ़ी, हाड़ पींजरा देह।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन गेह॥

यह शरीर अशुचि (अपवित्र) पदार्थों के संयोग से बना है। उत्तमोत्तम पदार्थ भी इस शरीर के संसर्ग से अशुचि में परिवर्तित हो जाते हैं। यह शरीर मल मूत्र रक्त, मांस आदि का भंडार है। ऐसे शरीर पर क्या मोह करना।

इस प्रकार अशुचिता के चिन्तन से शारीरिक रूप-सौन्दर्य को देख कर मोह पैदा नहीं होता।

७ आस्रव भावना मोह-नींद के जोर, जगवासी घूमे सदा,
कर्म चोर चहुँ ओर, सरबस लूटे सुध नहीं।
सतगुरु देय जगाय, मोह नींद जब उपशमै,
तब कछु बने उपाय, कर्मचोर आवत रुके॥

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और दुष्टयोग-ये चार आस्रव ही जीव को संसारवृद्धि के मूल कारण है। इन्हीं चारों के कारण जीव अनादि काल से ससार मे भटकता है। अत इन चारों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये।

८ सवर भावना—ज्ञान, दीप, तप तेलभर, घर शोधे भ्रम छोर।
या विधि बिन निकसे नहीं, बैठे पूरब चोर॥

इस भयकर ससाररूपी कारागार मे से जीव को मुक्त करने वाले सम्यक्त्व, विरति, कषाय निग्रह, समिति-गुप्ति का पालन-ये चार संवर धर्म है। ये ही आत्मा का कल्याण करने वाले परम-मित्र है। अतः जीवन मे इनका खूब आदर करना चाहिये।

९ निर्जरा भावना पंच महाव्रत संचरण, समिति पच प्रकार।
प्रबल पच इन्द्रियविजय, धार निर्जरा सार॥

जीव को सकाम निर्जरा करने का यह सुअवसर मिला है। अतः सुखशीलता का त्याग कर बारह प्रकार के तप मे उद्यमशील बनना चाहिये। जिससे कर्मों का नाश होकर आत्मा शुद्ध सुवर्ण की तरह निर्मल बन जाय।

१० लोकस्वरूप चौदहराज उत्तुंग नभ, लोक-पुरुष सठान।
तामे जीव अनादितें, भरमत है बिन ज्ञान॥

जीव को चौदह राजलोक के स्वरूप का विचार करना चाहिये। उसमें स्थित अनन्त जीवों और पुद्गलों का उनके संस्थान, आयुष्य एवं स्थिति वगैरह का विचार करना चाहिये। जिससे चंचल मन स्थिर बनें एवं जीव और पुद्गल की विविध-पर्यायों के चिन्तन से संसार के प्रति वैराग्य पैदा हो।

११ बोधि दुर्लभ धन-कन कचन राजसुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुरलभ है ससार मे, एक यथारथ ज्ञान॥

संसार में राज्य ऋद्धि, स्त्री-पुत्र, मान-सम्मान आदि मिलना बहुत ही सरल है। भूतकाल में ये चीजें जीव को अनन्तवार मिली और नष्ट हो गई। किन्तु इससे जीव का कोई कल्याण नहीं हुआ। इस संसार में तत्त्व-अतत्त्व, सार एवं असार का विवेकरूप सम्यग्दर्शन (बोधि) की प्राप्ति होना ही अत्यन्त दुर्लभ है। उस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति महान् पुण्य से ही होती है, अतः उसका रक्षण एव उसे सत्कार्यों से सफल बनाना आवश्यक है।

१२ धर्मभावना जांचे सुरतरु देय सुख, चिन्तत चिन्ता रैन।
बिन जांचे बिन चिन्तिये, धर्म सकल सुख दैन॥

अनन्त उपकारी जिनेश्वर भगवन्तों ने भव का नाश कर देने वाला कैसा उत्तम धर्म-मार्ग बताया है (अहिंसादि पाँच महाव्रत रूप, क्षमादि दशविध यति धर्म रूप) जो धर्म कल्पवृक्ष और चिन्तामणि रत्न से भी अधिक महिमामय है। कल्पवृक्ष और चिन्तामणि मांगनेपर वाञ्छितफल देते हैं। जबकि जिनेश्वर भगवन्त द्वारा बताये हुए धर्म की सच्ची आराधना करने पर बिना मांगे ही शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

५ चारित्र

(१) सामायिक चारित्र :— प्रतिज्ञापूर्वक सर्व सावद्य प्रवृत्ति का जीवन भर के लिये त्याग करके, पंचाचार को पालन करते हुए समभाव में रमण करना।

(२) छेदोपस्थापनीय जैसे सडे हुए अंग को काटकर फेंक दिया जाता है, वैसे दूषित पूर्व चारित्र-पर्याय को छेदकर (पूर्व के दीक्षा वर्षो को न गिनना) पुनः महाव्रत का आरोपण करना। पुनः महाव्रत उच्चराना।

(३) परिहारविशुद्धि : गच्छ से अलग रहकर नौ साधु द्वारा अट्ठारह मास में वहन किया जाने वाला तप-विशेष युक्त चारित्र।

(४) सूक्ष्मसंपराय : दशवें गुणस्थान के अन्त में अत्यल्प राग वाला चारित्र।

(५) यथाख्यात : वीतराग का सर्वदोष रहित चारित्र।

निर्जरा

आते हुए कर्मों का रोकना संवर होता है जबकि पहले से आत्मा के साथ बन्धे हुए कर्मों का क्षय निर्जरा है। जिस प्रकार तालाब में जल के आगमन द्वार रोकने पर संग्रहीत पानी स्वतः धीरे-धीरे या उपाय द्वारा सूख जाता है उसी प्रकार भोग या तप आदि से आत्मा के सा. बंधे हुए कर्म क्षय होते हैं। भोग द्वारा जो स्वतः कर्मक्षय होते हैं वह अकाम निर्जरा है। किन्तु जो तप आदि उपायों के द्वारा कर्मक्षय होते हैं वह सकाम निर्जरा है।

तप के बारह भेद हैं

छः बाह्य तप

१ अनशन चार या तीन प्रकार के आहार का कुछ समय के लिए या जीवन पर्यन्त त्याग करना। मर्यादित समय के लिए आहार त्याग इत्वरिक अनशन तप है जैसे उपवास, बेला, तेला आदि। इसमे श्रेणी, प्रतर, घन, वर्ग, वर्ग वर्ग एवं प्रकीर्णक तप भी होते हैं। इत्वरिक तप मे उत्कृष्ट १ वर्ष का ऋषभदेव ने, छः मास का महावीर स्वामी ने किया।

२ ऊनोदरी भूख से कुछ कम खाना एवं कषाय आदि का निग्रह करना।

३ वृत्ति-संक्षेप शुद्ध एवं निर्दोष आहार लेना। विविध प्रकार की प्रतिज्ञाओं से अपनी वृत्तियों का सकोच करना। जैसे इतने द्रव्य से अधिक नही खाऊंगा या अमुक····अमुक वस्तुयें सर्वथा नहीं खाऊंगा।

४—रसपरित्याग घी, दूध, दही आदि विगयों मे से, एक दो या सबका त्याग करना।

(५) कायक्लेश —आत्मशुद्धि की भावना से शरीर द्वारा कष्ट सहन करना। जैसे केश-लोच, उग्र-विहार, परीषह, उपसर्गों को सहन करना। सर्दी या धूप मे वीरासन, पद्मासन वगैरह लगाकर बैठना।

६ संलीनता शारीरिक, मानसिक, और वाचिक अशुभ प्रवृत्ति को रोकना। कषायों का निरोध करना।

छः आभ्यन्तर तप

१ प्रायश्चित—किये हुए अपराधों की गुरु के समक्ष चित्तशुद्धि के लिये आलोचना करना, तथा उसकी विशुद्धि के लिये गुरु द्वारा दिया गया, तप, जप, स्वाध्याय आदि स्वीकार करना।

२ विनय-देव, गुरु, धर्म की भक्ति, बहुमान एवं प्रशंसा करना। निन्दा एव आशातना का सर्वथा त्याग करना।

३—वैयावृत्य आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, शैक्षक (नूतनमुनि) ग्लान, साधर्मिक, कुल, गण एवं संघ इन दसों की सेवा-शुश्रूषा करना।

४ स्वाध्याय—ज्ञान-ध्यान मे रमण करना। इसके पाँच प्रकार है।

१ वाचना-सूत्र और अर्थ का विधि-पूर्वक अध्ययन करना।

२—पृच्छा-सन्देह दूर करने के लिये सूत्र-अर्थ के विषय मे गुरु से पूछना।

३—परावर्तना-सूत्र और अर्थ का पुनः पुनः परावर्तन करना।

४—अनुप्रेक्षा-सूत्रार्थ का चिन्तन-मनन एव परिशीलन करना।

५ धर्म-कथा तात्विक चर्चा-विचारना करना, उपदेश देना इत्यादि।

५—ध्यान (Meditation)

चित्त वृत्तियों का निरोध योग कहलाता है। योग निर्वाण प्राप्ति का

श्रेष्ठतम मार्ग है और इसे आचार्य हरिभद्रसूरि ने पाँच भागों में विभक्त किया है .

(१) अध्यात्म योग

(२) भावना योग

(३) ध्यान योग

(४) समता योग

(५) वृत्ति संक्षय योग

ध्याता का ध्येय के साथ संयोग तदाकार हो जाना ही योग है और ध्यान योग मे मन की एकाग्रता सम्पादन कर ध्येय की ओर बढ़ते हैं।

ध्यान

जैन साधना पथ में ध्यान को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। ध्यान के अवलम्बन से मानसिक शक्ति पुंजीभूत हो जाती है और आत्मा मे अद्भुत तेज-सामर्थ्य पैदा होता है। चित्त वृत्तियों का प्रवाह रोक कर चिन्तनधारा को लक्ष्य की ओर प्रवाहित करने को ध्यान कहा जाता है। मानसिक वृत्तियों के अनियंत्रित प्रसार का अवरोध करने से सकल्प मे दृढ़ता व तीव्रता आती है और शक्ति का अभ्युदय होता है। सक्षेप में ध्यान की परिभाषा यह की गई है -

स्थिर दीपशिखा के समान निश्चल और अन्य विषय के सचार से रहित एक ही विषय के धारावाही प्रशस्त सूक्ष्म-बोध को ध्यान-योग कहते हैं।

अष्टांग योग और ध्यान

महर्षि पातजलि ने निम्नलिखित अष्टांग-योग बताए हैं :

१. यम २. नियम ३. आसन ४. प्राणायाम ५. प्रत्याहार ६. धारणा ७. ध्यान ८. समाधि।

जैनधर्म में चित्तगत मल का नाश और आत्मगत ज्ञान की प्राप्ति को ही योग का ध्येय बताया है परन्तु योग के अष्टांगों का भी मौलिक रूप से इस प्रकार प्रतिपादन किया है :-

१. महाव्रत (यम) २. १२ योग संग्रह (नियम) ३. कायक्लेश (आसन) ४. भाव प्राणायाम (प्राणायाम) ५. प्रतिसंलीनता (प्रत्याहार) ६. धारणा (धारणा) ७ ध्यान (ध्यान) ८. समाधि (समाधि) ।

इस प्रकार योग में ध्यान को स्थान देकर पुनः इसे चार भागों में विभाजित किया है :

१. आर्त ध्यान: अरति, शोक, सन्ताप और चिन्ता से उद्भूत वृत्तिप्रवाह । इसके प्रधान चार कारण हैं

१ अनिष्ट वस्तु का सयोग और उसके पृथक्करण के लिए होने वाली चिन्ता ।

२ इष्ट वस्तु के संयोग-विच्छेद न होने की चिन्ता और विच्छेद होने पर पुनः प्राप्ति की कामना ।

३ व्याधिजन्य दुःख और पीड़ा से विमुक्ति की चिन्ता ।

४ भविष्य के कमनीय स्वप्नों की पूर्ति की चिन्ता । उन्हें क्रमशः अनिष्ट संयोग, इष्ट वियोग, रोग चिन्ता और निदान नामों से भी जाना जाता है ।

२. रौद्र ध्यान—क्रूर आशय से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति की एकाग्रता रौद्रध्यान है । क्रोध, ईर्ष्या, कपट, लोभ, अहंकार आदि रौद्र क्रूर वृत्तियों के कारण हिंसा, असत्य, चौर्य, परिग्रह से सम्बन्धित चिन्तन ही रौद्रध्यान है । यह चार प्रकार का है :

१. हिंसानुबंधी प्राणि हिंसा का संकल्प उग्र परिस्थिति में हिंसा कर खुशी मनाना ।

२. मृषानुबंधी असत्य पर पीड़ा-जनक वाणी का प्रयोग या उदय संकल्प। झूठ बोल कर चतुराई बघारना।

३. चौर्यानुबंधी अदत्तादान की चित्त वृत्ति।

४. संरक्षणानुबंधी परिग्रह की रक्षा में संलग्न वृत्ति।

३. धर्म ध्यान : धार्मिक कार्यों में चित्त की एकाग्रता होना धर्मध्यान है। यह भी चार प्रकार का है :

१. आज्ञा विचय : वीतराग कथित तत्वों में आस्था एवं यथोचित विश्लेषण।

२. अपाय विचय : राग, द्वेष, मोह आदि से प्राणियों की क्या दुर्दशा होती है, उसका चिंतन करना।

३. विपाक विचय : सुख में हर्ष व दुःख में विषाद की भावना त्यागकर कर्मफल का चिन्तन करना।

४. संस्थान विचय : लोक-जगत् के स्वरूप का एवं द्रव्य गुण पर्याय का चिंतन करना।

४. शुक्ल ध्यान : धर्म ध्यान से आत्मा विकास की ओर बढ़ती है। यह स्थिति सातवें गुणस्थान की है। आठवें गुणस्थान में शुक्ल-ध्यान की अवस्था आती है। शुक्लध्यान के प्रयोग से समस्त कषाय निर्मूल हो जाते हैं। यह ध्यान सर्वोत्तम ध्यान है और परम समाधि है।

शुक्लध्यान भी चार अवस्था में विभाजित है :

१. पृथक्त्व वितर्क सविचार अवस्था ध्येय वस्तु, वाचकशब्द और मन का प्राथमिक अवस्था में परिवर्तन होता रहता है फिर भी आत्मस्थ एकाग्रता विद्यमान रहती है।

२. एकत्व वितर्क अविचार अवस्था—एक वस्तु पर ध्यान तथा पदार्थ, शब्द और योग का सक्रमण निरोध।

३. अप्रतिपाति शुक्लध्यान—मन, वचन, काय के स्थूल योगों का निरोध कर श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही करना।

४. व्युपरत क्रिया निवृत्ति शुक्लध्यान – निर्विकल्प समाधि का सर्वोत्कृष्ट रूप इस विदेह अवस्था मे प्रकट हो जाता है जब सूक्ष्म क्रियाओं का सर्वथा अभाव होकर आत्मप्रदेश सुमेरु की भांति अचल हो जाते हैं। यही ध्यान की उच्चतम और श्रेष्ठतम अवस्था है।

प्रथम आर्तध्यान एवं रौद्र ध्यान अशुभ (Evil) एवं परवर्ती धर्म ध्यान एव शुक्लध्यान शुभ (good) माने जाते हैं। प्रथम दो मार्ग आत्मा को पतनोन्मुख करते हैं जबकि अन्य दो मार्ग आत्मा को उत्थान की ओर ले जाते हैं। शुक्लध्यान शुद्धतम ध्यान है।

ध्यान के कुछ तरीके

ध्यान के अभ्यास के लिये प्राथमिक भूमिका मे विविध जाप का अभ्यास करना चाहिये। (१) अष्टप्रातिहार्य युक्त अरिहंत परमात्मा को सामने और बाद मे हृदय में विराजमान कर, 'ॐ ह्रीं अर्हं नमः' का मृत्युंजय जाप करना। इसमे यह ध्यान रखें कि जाप मे मन की एकाग्रता कितने समय टिकती है। (२) जाप का मन्त्र बड़े-बड़े नयनरम्य अक्षरों मे लिखकर सामने रखकर, अक्षर पढते हुए जाप करें। (३) आंखे बन्द कर मुंह से उच्चारण करते हुए (भाष्यजाप) जाप करें अभ्यास बढ़ने के बाद मानसिक उच्चारण (उपांशुजाप) करें। एकाग्रता का और अधिक अभ्यास हो जाय तो मानसजाप करें। इससे एकाग्रता का अभ्यास होता जायेगा, जिससे ध्यान करने की शक्ति आयेगी। (४) भगवान् के समवसरण का मानसिक चित्र खींचते हुए उनमे विराजमान देशना देते हुए तीर्थंकर भगवान् का ध्यान करे। आचार्य, उपाध्याय एवं साधु भगवन्तों के विविध-गुणों का स्मरण करते हुए उनका चिन्तन करें। तीर्थों का मानसिक-दर्शन करते हुए भाव-स्पर्शना करें। (५) चैत्यवन्दन, प्रतिक्रमण आदि की क्रिया करते समय सूत्रों के अर्थ का चिन्तन करना। जैसे 'नमो अरिहंताण..........' बोलते समय अनंत अरिहन्त भगवान, अनन्त सिद्ध भगवान्, अनन्त आचार्यादि आँखों के समक्ष आ जाय। उन्हें काया से

नमस्कार करते हुए, हृदय में उनके गुणों का चिन्तन करें। अर्द्धज्ञान न हो तो सून बोलते समय उसकी पंक्तियां चित्र लिखित सी हमारी आँखों के समक्ष दिखाई दें।

इस तरह पाँचवें ध्यान तप का विवरण समाप्त हुआ।

(६) कायोत्सर्ग इसमें दो शब्द हैं काय और उत्सर्ग। दोनों को मिलकर अर्थ होता है —काय का त्याग। कुछ समय तक शरीर को वोसिरा कर निष्पंद-निश्चल खड़ा हो जाना। वह उस समय न संसार के पदार्थों मे रहता है न शरीर में रहता है, सब ओर से सिमिटकर आत्म-स्वरूप मे लीन हो जाता है। कायोत्सर्ग अन्तर्मुख होने की साधना है। कायोत्सर्ग की मूल भावना है शरीर और आत्मा की भिन्नता का ज्ञान होना "यह शरीर और है, और मै और हूं।"

कायोत्सर्ग के दो भेद हैं—द्रव्य और भाव।

१ द्रव्य कायोत्सर्ग का अर्थ है शरीर की चेष्टाओं का निरोध करके एक स्थान पर निश्चल एवं निष्पद स्थिति मे खड़ा रहना।

२ भाव कायोत्सर्ग का अर्थ है आर्त्त एव रौद्र दुर्ध्यानो का त्याग-कर धर्म तथा शुक्ल ध्यान मे रमण करना। मन मे शुभ विचारों का प्रवाह बहाना। आत्मा के मूल स्वरूप की ओर गमन करना। कायोत्सर्ग मे ध्यान की ही महिमा है। द्रव्य तो ध्यान के लिये भूमिका मात्र है।

बाह्यतप का अर्थ है जिनके द्वारा दूसरो को भी लगे कि 'अमुक-व्यक्ति ने तप किया है। अर्थात् जो प्रत्यक्ष दिखाइ देते हैं। जब कि अभ्य-न्तर तप प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते। कर्मक्षय और आत्म-विशुद्धि मे अभ्य-न्तर तप का विशेष महत्व है। बाह्यतप भी तभी कर्मक्षय का कारण होते हैं जबकि उनके पीछे आन्तरिक तप है।

बन्ध

काषायिक परिणामों से कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ बन्धन हो

जाना बन्ध है। आत्मा और कर्मों का यह बन्ध दूध व पानी तथा अग्नि और लोहपिण्ड का एकाकार होने के समान है।

बन्ध हेतु

बन्ध के चार भेद हैं

१. प्रकृति बन्ध अपनी प्रकृति के अनुसार कर्मों के स्वभाव का निश्चित होना। जैसे अमुक गुण आत्मा के ज्ञान या दर्शन गुण को आवृत करेगा।

२. स्थिति बन्ध जीव द्वारा बद्ध कर्म पुद्गलों का निश्चित समय तक रहना। काल मर्यादा का निर्धारण होना।

३. अनुभाग बन्ध कर्म तीव्र शक्ति रस से फल देगा या मन्द शक्ति से यह निश्चय होना।

४. प्रदेश बन्ध ग्रहण किए हुए कर्म पुद्गलों का न्यूनाधिक परिमाण में ज्ञानावरणीय आदि रूप में बँट जाना। कर्मों के फल देने से पूर्व की स्थिति का नाम बन्ध है। जब कर्म फल देने लगते हैं तो पुण्य व पाप कहलाते हैं। प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग के निमित्त से और स्थिति बन्ध तथा अनुभाग बन्ध कषाय के निमित्त से होता है। शुभ बन्ध को पुण्य और अशुभ बन्ध को पाप कहते हैं। बन्धन से मुक्ति पाना ही आत्मा का चरम लक्ष्य है।

मोक्ष :

कर्म बन्ध से सर्वथा मुक्त होना और आत्मस्वरूप की प्राप्ति करना मोक्ष है। कर्म क्षय के साथ जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है और सत्+चित्+आनन्द मय स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। बंध के कारणों (राग-द्वेष) और पूर्व संचित कर्मों का पूर्ण क्षय होना ही मोक्ष है।

मोक्ष आत्म विकास की पूर्णता है अतः मोक्ष का कोई भेद नहीं है।

मोक्ष प्राप्ति के चार उपाय हैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप। ज्ञान से तत्वों की जानकारी होती है और दर्शन से तत्वों पर श्रद्धा होती

है। चारित्र द्वारा कर्म का आश्रव रुकता है तथा तप से पूर्व बद्ध कर्मों का क्षय होता है। तप को चारित्र मे गर्भित करनेसे तत्वार्थ सूत्र के प्रथम सूत्र मे कहा गया है

सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्राणि मोक्षमार्गः।

ज्ञान, दर्शन, और चारित्र मे से किसी एक द्वारा मोक्ष को प्राप्ति नहीं होती परन्तु इनकी सामूहिक साधना से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस रत्नत्रय की आराधना हमारा परम ध्येय होना चाहिए तभी हम सिद्ध मुक्त या बुद्ध हो सकते हैं।

नौ ही तत्वों के स्वरूप को सुगमता से समझाने के लिये एक रूपक बाँधा गया है। जैसे—एक तालाब है। उसमे स्वच्छ जल भरा पड़ा है। किन्तु उसमे दोनों ओर से कचरा बह-बहकर अन्दर आता रहता है। कचरा भी शुभ और अशुभ दो प्रकार का है। अब यदि नालियों के द्वार बन्द कर दिये जाय तो, नया कर्म का कचरा आना बन्द हो जाता है। तथा ऐसा कोई चूर्ण पानी मे डाल दिया जाय तो अन्दर का कचरा साफ होकर पानी एकदम स्वच्छ व निर्मल बन जाता है।

जीव के विषय मे भी कुछ ऐसा ही है। इसमे अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन आदि रूप स्वच्छ जल भरा है। किन्तु मिथ्यात्वादि के कारण कर्मों का कचरा आ आकर आत्मा मे भरता जा रहा है। मिथ्यात्वादि आश्रव रूप है। (आश्रव = जिसके द्वारा आत्मा मे कर्मों का स्राव हो) कर्म जड़ है। वे शुभ और अशुभ दो रूपों मे आत्मा के साथ आकर चिपकते हैं। शुभकर्म पुण्यरूप है और अशुभ कर्म 'पाप' है। मिथ्यात्वादि के सामने यदि सम्यक्त्व, व्रत-नियम आदि को अपना लिया जाय तो आश्रव-द्वार बन्द हो जाते हैं, इसी का नाम संवर है। संवर का अर्थ है कर्म के सामने ढक्कन लगाना। आत्मा मे जो कर्म आते हैं वे आत्मा के साथ घुलमिल जाते हैं। कर्मों का आत्मा के साथ एकमेक होना 'बंध' कहलाता है। बंधे हुए कर्मों के कचरे को तप-संयम

आदि की आराधना के द्वारा आत्मा से दूर कर देना 'निर्जरा' है। जब सर्व कर्म का क्षय हो जाता है और आत्मा एकदम कर्म-रहित बन जाता है, वही 'मोक्ष' है।

नवतत्त्वों के अन्तर्गत आश्रव और बंध के द्वारा कर्मों का बंधन होता है और संवर और निर्जरा द्वारा आत्मा से कर्म दूर होते हैं। अब यह जानना है कि कर्म क्या है। उनका क्या स्वरूप है? कर्म-कितने प्रकार के हैं? इत्यादि कर्म के सम्बन्ध में ये सारी बातें अगले अध्याय में विवेचित की जायगी।

:०:

कर्मवाद

संसार मे हम जिधर भी देखें उधर विविधता एव विषमता के दर्शन होते हैं। संसार मे चार गति एवं चौरासी लाख जीव योनियाँ मानी गई है। उन सब गतियों एवं योनियों मे जीवों की विभिन्न-दशायें एव अवस्थायें दिखाई देती है। कोई मनुष्य है तो कोई पशु है। कोई पक्षी रूप मे है तो कोई कीड़े-मकोड़े के रूप मे रेंग रहा है।

हम मनुष्यगति को ही लें। वहाँ कितनी विषमतायें देखने को मिलती है। कोई शरीर से पहलवान लगता है तो कोई एकदम दुबला-पतला है। कोई रोगी है तो कोई निरोगी। कोई सुन्दर-सुरूप-सुडौल लगता है तो कोई एकदम कुरूप एव बेडौल दिखाई देता है। कोई बुद्धिमान है तो कोई निरामूर्ख है। किसी की बात सुनने को लोग सदा लालायित रहते हैं तो किसी का एक वचन भी कोई सुनना नहीं चाहता। कोई व्यक्ति क्षमा, सहिष्णुता आदि आत्मिक गुणों की सजीव मूर्ति है तो कोई क्रोधादि दुर्गुणों का पुतला है। किसी के चारों ओर धन-वैभव-स्वजन-परिजनों का अम्बार लगा है तो कोई धन-वैभव स्वजन-परिजन से हीन दुखमय स्थिति बिताते हैं।

प्रश्न है कि प्रत्येक-प्राणी के जीवन मे यह विविधता और विषमता क्यों है? हमारे तत्वज्ञानियों इस प्रश्न का समाधान देते हुए कहा है कि "कर्मज लोकवैचित्र्यं" विश्व की यह विचित्रता कर्मजन्य है। कर्म के कारण है। मानवों मे मनुष्यत्व समान होनेपर भी जो अन्तर दिखाई देता है, उसका कारण कर्म है। यह सब विचित्रता कर्मकृत है।

जीव अपने मूलस्वरूप मे शुद्ध, बुद्ध, निरंजन एवं निराकार है। उसमे अनन्तज्ञान है। आत्मा का ज्ञान स्वभाव ही उसे जड़ से पृथक्

करता है। अनन्तज्ञान के साथ आत्मा में अनन्तदर्शन अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व वीतरागता। क्षायिक चारित्र, अक्षय स्थिति, निराकार अवस्था, अगुरुलघुस्थिति एवं अनन्तवीर्य हैं। जैसे सूर्य की तेज किरणें होती हैं वैसे ही ये आठ आत्मा की मौलिक शक्तियाँ हैं। किन्तु जैसे सूर्य पर बादल आजाने से उसकी किरणें दब जाती हैं ठीक वैसे ही आत्मा के गुण भी आ० तरह के कर्म पुद्गलों से आच्छादित होने से दब जाते हैं। इससे उसका मूलस्वरूप प्रकट नहीं होता किन्तु विकृतस्वरूप ही सामने आता है। नीचे तालिका द्वारा स्पष्ट किया जाता है कि कौन-सा कर्म आत्मा के किस गुण को आवृत करता है तथा उस आवरण के कारण आत्मा का कैसा-कैसा विकृत रूप हमारे सामने आता है।

कर्म	आत्म-गुण	विकृत रूप
१. ज्ञानावरणीय	ज्ञान-गुण	अज्ञान
२. दर्शनावरणीय	दर्शन-गुण	अन्धापन-अश्रवण आदि व निद्रा आदि।
३. वेदनीय	सहजसुख	साता-असाता
४. मोहनीय	वीतरागता	मिथ्यात्वादि कषाय हास्यादि
५. आयुष्य	अक्षयस्थिति	जन्म-मृत्यु
६ नामकर्म	अरूपीपन	सुरूप-कुरूप, इन्द्रियाँ, गति यश, अपयश, सौभाग्य-दुर्भाग्य, त्रसभाव, थावरभाव
७. गोत्र	अगुरुलघु	ऊँच-नीच भाव
८. अन्तराय	अनन्तवीर्य	कृपणता, दरिद्रता, पराधीनता, दुर्बलता आदि

इस प्रकार जीव का मौलिक स्वरूप शुद्ध, बुद्ध, निरंजन एवं निराकार है, किन्तु कर्मबन्ध के कारण जीव अशुद्ध, अज्ञान एवं विकृतस्वरूपवाला बन

गया है। जीव की यह विकृति अनादि अनन्तकाल से चली आ रही है। पुराने कर्म ज्यों-ज्यों पकते जाते हैं त्यों-त्यों वे इन विकारों को प्रकट करते जाते हैं और आत्मा से हटते जाते हैं। इधर नये-नये कर्म खड़े होते जाते हैं और वे समय आने पर (उदय आने-पकने पर) अपने विकार दिखाते रहते हैं। इस तरह विकारों की धारा सतत् चालू रहती है। यह धारा तभी टूट सकती है, जबकि नये कर्मबन्ध होने के कारण ही समाप्त हो जाय। जीव अपने अनन्तज्ञानादि रूप मौलिक स्वरूप को प्राप्त कर लें।

कर्म एवं कर्मबंध के कारण

कर्म का अर्थ व्यवहार मे काम-धन्धा, व्यवसाय होता है, किन्तु जैनदर्शन के अनुसार कर्म का भिन्न ही अर्थ है। जीव जब राग-द्वेष से प्रेरित हो, मानसिक, वाचिक एवं कायिक प्रवृत्ति करता है, तब आत्मा मे एक स्पन्दन होता है। उससे सूक्ष्म-पुद्गल परमाणु आ-आकर आत्मा पर चिपकते हैं, और जिनके द्वारा विविध शुभाशुभ संस्कार आत्मा मे उत्पन्न होते हैं, वे कर्म हैं। आत्मा मे चुम्बक की तरह पुद्गल-परमाणुओं को अपनी ओर आकर्षित करने की शक्ति है। तथा उन परमाणुओं मे लोहे की तरह आकर्षित होने की शक्ति है। यद्यपि पुद्गल परमाणु निर्जीव हैं, तथापि जीव की राग-द्वेषात्मक मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक क्रिया द्वारा आकृष्ट होकर वे आत्मा के साथ ऐसे घुल-मिल जाते हैं, जैसे दूध-पानी, आग और लोहपिण्ड। इस तरह जीव द्वारा किया हुआ होने से वह 'कर्म' कहलाता है।

कीरइ जिएण हेउहिं जेण तु भण्णइ कम्म।

कर्म बन्ध के पाँच कारण हैं (१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) कषाय (४) योग और (५) प्रमाद। ये पाँच आश्रव कहलाते है। अब यहाँ इन पाँचों का सक्षेप मे विचार करेंगे।

१ मिथ्यात्व मिथ्यात्व यानी मिथ्याभाव, मिथ्यारुचि। वीतराग सर्वज्ञ भगवान द्वारा कथित जीव-अजीवादि तत्त्व पर रुचि न होना अना-

जिनों द्वारा कथित तत्त्वों पर रुचि होना। प्रभु द्वारा प्रतिपादित मोक्ष-मार्ग पर रुचि न होना, अज्ञानियों द्वारा कल्पित मोक्षमार्ग पर श्रद्धा होना मिथ्यात्व है। अथवा सुदेव-सुगुरु एवं सुधर्म पर रुचि न रखकर कुदेव, कुगुरु एवं कुधर्म पर श्रद्धा रखना मिथ्यात्व है अथवा आत्मा पर आस्था न होना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं।

(i) अनाभोगिक ऐसी मूढ़ता कि जहाँ तत्त्व-अतत्त्व का कोई विवेक न हो।

(ii) आभिग्राहिक जो मेरा है, मैं मानता हूँ, वही सच्चा है, ऐसा कदाग्रह होना।

(iii) अनाभिग्राहिक मिथ्या धर्म करता हो, किन्तु उसके प्रति मन मे कोई कदाग्रह न हो। दूसरे धर्म के प्रति भी समान भाव रखें।

(iv) आभिनिवेशिक वीतराग भगवान का धर्म मानते हुए भी उसकी कुछ बातें न मानना। उससे विपरीत बातों का दुराग्रह रखना।

(v) सांशयिक—सर्वज्ञ प्रभु द्वारा प्रतिपादित तत्वो के प्रति शंका करे।

मिथ्यात्व आत्मा का सबसे बड़ा शत्रु है। क्योंकि यदि मूलमे तत्त्व, मोक्षमार्ग या देवगुरु धर्म पर श्रद्धा नहीं है, तो पापासक्ति कैसे छूटेगी? मिथ्यात्व के रहते हुए, किये गये त्याग-तपस्यादि अनन्तवार निष्फल चले गये। अतः मिथ्यात्व को आत्मा से हटाना सर्व प्रथम आवश्यक है।

२ अविरति न + विरति = अविरति है। अर्थात् पाप त्याग की प्रतिज्ञा न होना अविरति कहलाता है। हिंसादि पाप क्रिया यद्यपि प्रतिपल चालू नहीं रहती, तथापि उसका प्रतिज्ञा पूर्वक त्याग न कर दें तो अविरति का पाप चालू रहता है। इससे कर्मबंध होता है।

जिस तरह धर्म करने, कराने तथा अनुमोदना करने से पुण्यबन्ध होता है, पापकर्मो का नाश होता है, इसी तरह पाप करने, कराने तथा पाप की अनुमोदना-अपेक्षा रखने से भी कर्मबंध होता है। अब देखना है कि पाप

नहीं करते हैं, फिर भी पाप न करने की प्रतिज्ञा लेने से भय क्यों होता है ? यदि गहराई से विचार करें तो पता चलता है कि मन मे कहीं न कहीं पाप की अपेक्षा रही हुई है कि यदि ऐसा प्रसंग आ गया तो किये विना कैसे रहूंगा ? यह कमजोरी व्यक्ति को प्रतिज्ञा लेने से रोकती है। और जहां तक यह कमजोरी है, वहाँ तक पाप की अपेक्षा है, राग है। इससे पाप न करते हुए भी पाप की अविरति चालू रहती हैं।

व्यवहार मे देखा जाता है कि यदि किसी व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति के साथ व्यापार मे साझा है, भले फिर वह कभी जाकर दुकान को समाले ही नहीं, तथापि यदि दुकान मे नुकसान लगता है तो उसका हिस्सेदार उसको भी होना ही पड़ता है इसी तरह पूरे साल कोई व्यक्ति मकान बन्द कर बाहर रह जाय किन्तु म्युनिसिपल्टी को नोटिस न दिया हो तो नल, बिजली आदि का टैक्स भरना ही पड़ता है। इसी तरह यदि पाप त्याग की प्रतिज्ञा नहीं है तो पाप चालू रहता है। कर्म का भार बढ़ता रहता है। अतः यथाशक्ति समय की मर्यादा बांधते हुए व्रत, नियम, प्रतिज्ञा अवश्य ग्रहण करनी चाहिये, ताकि आत्मा पर व्यर्थ कर्म का भार न बढे।

स्थूलरूप से अविरति बारह प्रकार की होती है। पांच इन्द्रिय व छट्ठे मनसंबधी पापों की प्रतिज्ञा न होना। तथा हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन परिग्रह एव रात्रिभोजन न करने की प्रतिज्ञा न होना। कुल ६+६ =१२ हैं। इनमे से मर्यादा रखकर त्याग करना 'देशविरति' है और सर्वथा त्याग करना सर्वविरति कहलाती है।

३ कषाय कष = ससार, आय = लाभ। जिससे जीवों का संसार बढता है, उसका नाम कषाय है। क्रोध, मान, माया = कपट, एवं लोभ ये चार मुख्य कषाय हैं। राग, द्वेष, ईर्ष्या, वैर-विरोध, हास्य, शोक, हर्ष, उद्वेग, भय, घृणा आदि कषाय के ही प्रकार हैं। अत. इनका समावेश कषाय मे ही हो जाता है। ये चारों कषाय अति-उग्र, उग्र मध्यम और

मन्द, चार-चार प्रकार के होते है। इन्ही को क्रमश अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानीय एवं संज्वलन कहा जाता है।

(१) अनन्तानुबंधी अनत संसार को बढानेवाली कषाय अनतानुबंधी कहलाती है। इन कषायों के उदय मे जीव अपना भान भूल जाता है। इन कषायों की स्थिति मे हिंसादि पापों का रस होता है तथा इष्ट अनिष्ट विषयो के प्रति राग-द्वेष का तीव्र आवेश रहता है। ये कषाय सम्यक्त्व के घातक हैं। क्योंकि सम्यक्त्व तत्त्वश्रद्धारूप होता है। सम्यग्दर्शन की विद्यमानता मे पुण्य-पाप, कार्य-अकार्य का पूर्ण विवेक होता है, किन्तु अनतानुबधी कषाय इस विवेक को जगने ही नहीं देते। यदि यह विवेक जगा हो तो, ये कषाय आते ही उसे खत्म कर देते है।

(२) अप्रत्याख्यानीय वे कषाय जो हिंसादि पापों को बुरा जानते हुए एवं मानते हुए भी उनको त्याग कर देने (प्रत्याख्यान) का भाव मन में पैदा ही न होने दें। ये कषाय विरति के घातक हैं।

(३) प्रत्याख्यानीय यद्यपि ये कषाय त्याग भावना को सर्वथा तो नहीं रोकते हैं, तथापि सर्वविरति अर्थात् सर्वथा पाप त्याग कर देने की भावना को पैदा ही नहीं होने देते। अत ये कषाय 'सर्वविरति' साधुधर्म का बाधक है।

(४) संज्वलन सहज रूप से उत्पन्न होनेवाले कषाय संज्वलन हैं। जीव अनतानुबधी, अप्रत्याख्यानीय एव प्रत्याख्यानीय कषायों को छोड़ देने से आत्मा सर्वविरति-सयम को ग्रहण कर लेने की स्थिति मे आ जाता है, फिर भी कुछ-कुछ कषाय भाव आ जाता है, वही संज्वलन कषाय है। इस कषायों के कारण जीवों को "वीतरागदशा" की प्राप्ति नहीं हो पाती।

५. योग जीव के मन विचार वचन वाणी एव काय व्यवहार को योग कहते हैं। यदि ये शुभ हैं, तो शुभ कर्मों का बंध होता है और यदि ये अशुभ हैं, तो अशुभ कर्मों का बध होता है। योग पन्द्रह प्रकार के होते हैं। चार मन के, चार वचन के एव सात काया के। ४+४+७=१५

मन के चार (१) सत्य मनोयोग जो चीज जैसी हो, उसका उसी रूप में विचार करना (२) असत्यमनोयोग वस्तु या वस्तुस्थिति से विपरीत विचार करना (३) मिश्रमनोयोग सच्ची-झूठी मिश्रित विचार धारा (४) व्यवहार मनोयोग जो सत्य-असत्य कुछ भी न हो, किन्तु व्यवहार मे उपयोगी हो ऐसी विचारधारा जैसे 'सुबह जल्दी उठना चाहिये।'

वचन के चार (१) सत्यवचन योग—जैसी वस्तु हो वैसा कहना। (२) असत्य वचन योग झूठ बोलना (३) मिश्र वचन योग—सच्चा-झूठा मिश्रित बोलना (४) व्यवहारवचनयोग जो सच भी न हो, और झूठ भी न हो किन्तु व्यवहारोपयोगी हो। जैसे 'गांव आगया' इत्यादि।

काययोग के सात मृत्यु के बाद, जीव का जहां जन्म होता है वहां प्रथम समय मे ही कोई नया शरीर तैयार नहीं होजाता। किन्तु कर्म समूह रूप कार्मण-शरीर के सहारे औदारिक पुद्गलों को ग्रहण कर 'औदारिक' शरीर बनाना प्रारम्भ करता है। उस समय कार्मण एव औदारिक पुद्गलों का मिश्रण रूप औदारिक मिश्र 'काययोग' होता है। वैसे वैक्रिय एव आहारक शरीर बनाने से पहले कार्मण तथा वैक्रिय-आहारक के पुद्गलों का जो मिश्रण होता है उस समय क्रमशः वैक्रिय मिश्र एवं आहारक मिश्र काययोग होता है। जब तीनों शरीर बनकर पूर्ण हो जाते है, तब क्रमशः औदारिक वैक्रिय तथा आहारक काययोग प्रवर्त्तमान हो जाते हैं। मृत्यु के बाद जीव जब परलोक मे जाता हैं, तब जाने के प्रथम समय मे न तो त्यक्त शरीर के साथ ही कोई सम्बन्ध रहता है, न नये बनने वाले शरीर के साथ कोइ संबन्ध है। ऐसी स्थिति मे केवल कार्मण शरीर ही प्रवृत्ति करता है, वह कार्मण काययोग कहलाता है। इस प्रकार सात काययोग हैं।

इन पन्द्रह योगों मे से सत्यमनोयोग, सत्यवचनयोग, धर्म सम्बन्धी व्यवहार मनोयोग एव वचनयोग शुभ है। उसी तरह धर्मप्रवृत्तिरूप काययोग

शुभ है, शेष अशुभ है। शुभ योग से पुण्यबंध होता है और अशुभ योग से पाप बंधता है।

५. प्रमाद आत्मा को अपने स्वरूप से विचलित करने वाला प्रमाद है। मद, विषय, कषाय, निद्रा एवं विकथा ये पांच प्रमाद हैं। इनके अतिरिक्त राग, द्वेष, अज्ञानता, शंका, भ्रम, विस्मरण, अशुभ मन-वचन-काया तथा धर्म में अनादर इस तरह आठ प्रकार का भी प्रमाद होता है।

मिथ्यात्व अविरति, कषाय, योग एवं प्रमाद ये पांच कर्मबंध के कारण हैं। ये जितने प्रबल होते हैं, कर्मबन्ध उतना ही प्रबल होता है।

शुभ और अशुभ कर्म

जैनदर्शन के अनुसार कर्म-वर्गणा के पुद्गल-परमाणु लोक मे सर्वत्र भरे पड़े हैं। उनमे शुभत्व-अशुभत्व का कोई भेद नहीं है। फिर कोई कर्म शुभ या कोई कर्म अशुभ कैसे होता है? इसका समाधान यह है कि-जीव जब कर्म-परमाणुओं को ग्रहण करता है, तब ही अपने शुभ-अशुभ भावों के अनुसार उन कर्म-दलिकों को शुभ-अशुभ मे परिणत करते हुए ही ग्रहण करता है। इस प्रकार जीव के अपने परिणाम एवं विचार ही कर्मों को शुभता एवं अशुभता के कारण है। इसका अर्थ यह है कि-कर्म-पुद्गल स्वयं अपने आप में शुभ और अशुभ नहीं होता, बल्कि जीव का परिणाम ही उसे शुभ और अशुभ बनाता है।

जीव कर्म-दलिकों को ग्रहण करते समय केवल उनमे शुभत्व-अशुभत्व ही पैदा नहीं करता किन्तु चार बातें निश्चित करता है। १. प्रकृति[1] स्वभाव निश्चित करता है कि यह कर्म उदय आने पर क्या करेगा। २. स्थिति-यह कर्म कितने समय तक रहेगा। ३. रस-कर्म तीव्र या मन्द-रूप फल देगा। ४. प्रदेश

१. विशेष जानकारी के लिये बन्धतत्व विवेचन देखें।

कर्म के भेद और उनका स्वरूप

जैसे खाया हुआ भोजन पेट में जाकर रस रक्त, मांस, मज्जा, हड्डी, वीर्य आदि के रूप मे बँट जाता है, वैसे ही राग-द्वेष आदि परिणामों से जो कर्म-पुद्गलों का ग्रहण होता है वह भी ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि के रुप मे विभक्त हो जाता है। और अपने अपने स्वभाव के अनुसार आत्मा पर असर दिखलाता है।

आत्मा के मुख्यतः आठ गुण हैं। और उनको आवृत करने से कर्म के भी आठ भेद होजाते हैं। जैसे—(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र (८) अन्तराय।

ज्ञानावरणकर्म वस्तु के स्वरूप को यथार्थरूप से जानना ज्ञान है। जानने की शक्तिरूप ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। जो कर्म आत्मा की ज्ञान शक्ति को आवृत करे उसे ज्ञानावरण कर्म कहते हैं। जैसे आँखों पर लगी हुई कपड़े की पट्टी देखने मे बाधा डालती है उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्म भी आत्मा को पदार्थ का यथार्थ-ज्ञान करने मे बाधा डालता है।

ज्ञानावरण कर्म के उदय से आत्मा का ज्ञानगुण आवृत अवश्य होता है, किन्तु वह ज्ञानशून्य नहीं बन सकता। जैसे काली घटाओं से आकाश ढक जाने पर भी दिनरात का भेद जाना जासके इतना सूर्य का प्रकाश अवश्य रहता है। उसी प्रकार प्रगाढ ज्ञानावरण कर्म का उदय होने पर भी जीव अपने स्वरूप मे कायम रह सके उतना ज्ञान तो उसका अवश्य अनावृत रहता है। अन्यथा जीव-जड़ बनजायगा। इस कर्म की स्थिति उत्कृष्ट ३० कोड़ा कोडी की और जघन्य अन्तमुहूर्त्त की है।

ज्ञानावरण के बंध के कारण

सच्चे ज्ञानी की निन्दा करना, पढाने वालों का नाम छिपाना, ज्ञान के कार्य मे विघ्न डालना, ज्ञानी पुरुषों से द्वेष रखना, असत्य उपदेश

देना, पढ़ने मे प्रमाद करना, ज्ञान के उपकरणों की आशातना (कागज मे खाना, कूड़ा-कर्कट डालना आदि) करना। इन सब कारणों से जीव ज्ञानावरण-कर्म बाँधता है।

(२) दर्शनावरण कर्म —यह कर्म आत्मा को दर्शनशक्ति को आवृत करता है। इससे जीव पदार्थो का यथार्थ दर्शन नहीं कर सकता। जैसे राजा का द्वारपाल राजा के दर्शन करने आये हुए व्यक्ति को यदि अन्दर न जाने दें तो वह राजा का दर्शन नहीं कर सकता। वैसे-दर्शनावरण कर्म आत्मा को पदार्थो के दर्शन करने मे बाधा डालता है।

बंध के कारण किसी की आँख फोड़ना, देखने में विघ्न डालना, मुनियों को देखकर ग्लानि होना, धर्म एव धर्मात्मा की निन्दा करना जिन प्रतिमा, गुरु एव दर्शन के उपकरणो की आशातना करना। इस कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी सागरोपम एव जघन्य स्थिति अन्त-मुहुर्त्त की है।

(३) वेदनीय कर्म जो आत्मा को सुख और दुख दोनो दे। इस कर्म के उदय मे ससारी जीवों का उन्ही चीजों से सम्बन्ध होता है, जिस से वे जीव दुख-सुख दोनों का अनुभव करते हैं।

वेदनीय कर्म मधुलिप्त तलवार को चाटने समान है। शहद लपेटी तलवार को चाटने से पहिले तो सुख का अनुभव होता है बाद मे जीभ कट जाने से दुख का अनुभव होता है। इसी प्रकार वेदनीय कर्म साता और असाता दोनों देता है।

कारण —मुनिवरों की भक्ति करने से, क्षमा रखने से, जीवों पर अनु-कम्पा एव करुणा करने से, व्रत नियमो का पालन करने से, मन-वचन-काया पर संयम रखने से, कषायों पर निग्रह करने, दान देने से साता-वेदनीय कर्म का बध होता है। इसके विपरीत आचरण करने से असाता-वेदनीय बधता है। वेदनीय की उत्कृष्ट स्थिति ३० कोड़ाकोड़ी की एव जघन्य स्थिति १२ मुहूर्त्त की है।

४. मोहनीय-कर्म यह कर्म आत्मा को हित अहित का भान नहीं होने देता तथा तदनुसार आचरण करने मे भी रुकावट करता है। इससे आत्मा राग, द्वेष, काम-क्रोध, मद, लोभ आदि मे प्रवृत्ति करने लगता है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। जैसे शराब मनुष्य की बुद्धि को मूढ····बेसुध बना देती है। उसका विवेक नष्ट कर देती है। मनुष्य को कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का कोई भान नही रहता। वैसे मोहनीय कर्म व्यक्ति को भान भुला देता है। जीव अपने आपको भूलकर पुत्र, स्त्री, धन, मकान आदि पर पदार्थों को अपना समझ लेता है। उनकी प्राप्ति होने पर जीव को सुख और छिन जाने पर दुख का अनुभव होता है।

आठ कर्मों मे मोहनीय कर्म सबसे भयंकर और बलवान है। सभी कर्मों की जड़ मोह है कम्मं च मोहप्पभवं वयंति (कर्म, मोह से उत्पन्न होता है।) अत सर्वप्रथम इसी कर्म को नष्ट करना आवश्यक है। जैसे सेनापति के मरते ही सारी सेना भागजाती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर सारे कर्म नष्ट होजाते हैं।

मोहनीय के दो भेद है १ दर्शनमोहनीय और २—चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीय आत्मा के शुद्ध दर्शन-सम्यक्त्व-श्रद्धा को विकृत बना देता है। जैसे शराब पीकर बेसुध बना व्यक्ति विवेकहीन बनजाता है, वैसे दर्शन-मोह के उदय से व्यक्ति शरीर, स्त्री, पुत्र आदि पर-पदार्थों को अपना समझने लगता है।

चारित्रमोहनीय कर्म आत्मा के चारित्र गुण को आवृत करता है। इसके कारण आत्मा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, साधु एवं गृहस्थ संबंधी धर्माचरण को नहीं कर सकता। यदि उनपर चले भी तो चारित्रमोह की प्रबलता बीच ही मे उसे पथ-भ्रष्ट कर देती है।

कारण उन्मार्ग का उपदेश देना, सच्ची बात का अपलाप करना। देव संबंधी धन-संपत्ति को खाना, उसका दुरुपयोग करना जिन, मुनि, प्रतिमा, संघ आदि की निन्दा करना, द्वेष रखना इत्यादि से दर्शनमोहनीय कर्म का बंध होता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ कषायों की तीव्रता से चारित्रमोहनीय का बंध होता है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ाकोड़ी सागर है एवं जघन्य अन्तर्मुहूर्त है।

५. आयुकर्म—इस कर्म की स्थिति से प्राणी जीता है, और क्षय होनेपर मर जाता है। यह कर्म कारागार के समान है। जैसे न्यायाधीश अपराधी को दण्ड देने के लिये अमुक समय तक उसे कैद में डाल देता है। अपराधी कैद से छूटने की इच्छा रखते हुए भी अवधि पूरी हुए बिना वहां से नहीं छूट सकता। वैसे आयु कर्म जबतक रहता है, तबतक जीव चाहते हुए भी उस शरीर से नहीं छूट सकता। तथा सुखी व्यक्ति जीने की इच्छा रखते हुए भी आयु कर्म के पूर्ण होजाने पर एक क्षण भी जिन्दा नहीं रह सकता। आयु कर्म के नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु एवं देवायु ये चार भेद होते हैं।

कारण—बहुत आरम्भ-परिग्रह रखने से, हिंसा, झूठ आदि पाप करने से जीव नरक की आयु बांधता है। छल-कपट करने से तिर्यञ्च होता है। अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रह रखने से मन्द कषाय से मनुष्य होता है। व्रत उपवास करने से, शान्ति पूर्वक भूख प्यास सहन करने से अकाम निर्जरा एवं बालतप करने से देव होता है।

आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की एवं जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

६. नाम कर्म यह कर्म जीव को एक योनि से दूसरी योनि मे ले जाता है और उस योनि के अनुरूप शरीर की व्यवस्था करता है। यह कर्म चित्रकार के समान है। जैसे चित्रकार मनुष्य, हाथी, घोडा, गाय आदि नाना प्रकार के चित्र बनाता है वैसे नाम कर्म भी देव मनुष्य तिर्यंच एवं नारकादि के शरीर इन्द्रिय, अंगोपांग, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि की रचना करता है।

नामकर्म के शुभ और अशुभ दो भेद है। शुभनाम कर्म से सुन्दर, सुडौल, आकर्षक, प्रभावशाली शरीर आदि बनता है। व्यक्ति लोकप्रिय, यशस्वी,

आदेयवचन होता है। और अशुभ नामकर्म से बदसूरत, कुरूप, अप्रिय, बदनाम, अनादेय वचन आदि होता है।

कारण सरलता, धर्म-प्रेम, धर्मात्मा को देखकर खुश होना इत्यादि गुणों से शुभनाम कर्म का बंध होता है। घमण्ड करना, कुदेवों को पूजना, चुगली-निन्दा वगैरह करना, लडाई झगड़ा आदि करने से अशुभ-नाम कर्म बंधता है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोडाकोड़ी सागरोपम की एव जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

७ गोत्रकर्म गोत्रकर्म उसे कहते हैं, जो जीव को ऊँचा नीचा बनाता है। यह कर्म कुम्हार के समान है। जैसे कुम्हार अनेक प्रकार के घड़े बनाता है। उनमे से कुछ घड़े कलश बनकर अक्षत चन्दन आदि से पूजे जाते हैं और कुछ घडे ऐसे होते हैं, शराब आदि रखने के काम आते है। अतः निन्द्य, घृणित समझे जाते हैं।

गोत्रकर्म के उच्च व नीच दो भेद होते हैं। जिससे आत्मा उत्तम सस्कारी कुल मे जन्म लेता है, वह उच्चगोत्र कर्म है, और जिस कर्म के कारण जीव नीच, लोक निन्दनीय कुल मे जन्म लेता है, वह नीच गोत्र कहलाता है।

कारण—सभी के गुणो को देखनेवाला, गर्व रहित, जो निरन्तर देव, गुरु, शास्त्र एवं धर्म की विनय-भक्ति करता हो, वह उच्च गोत्र कर्म बांधता है। इससे विपरीत आचरण करने से नीच गोत्र कर्म बंधता है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति २० कोड़ा-कोड़ी की एवं जघन्य अन्तर्मुहूर्त की है।

८. अन्तरायकर्म अन्तराय यानी बाधा, रुकावट। अर्थात् जो कर्म जीव को दान, लाभ, भोग, उपभोग एव वीर्य शक्ति को पूर्णतः प्रकट होने मे बाधा डाले वह अन्तरायकर्म हैं। इस कर्म के कारण आत्मा का अनन्त बल कुछ ही अशों में प्रकट होता है। मनुष्य मे सकल्प शक्ति, साहस, वीरता, सुख-साधन आदि की अधिकता या न्यूनता इसी कर्म के कारण होती है।

अन्तराय-कर्म, भण्डारी के समान है। राजा की आज्ञा होते हुए भी कोषाध्यक्ष के प्रतिकूल होने पर इच्छित-प्राप्ति मे बाधा आ जाती है। उसी प्रकार आत्मारूपी राजा की दान, लाभ आदि की अनन्त शक्ति होते हुए भी अन्तराय-कर्म उसमे बाधक बन जाता है।

अन्तराय-कर्म के कारण ही जीव को प्रयत्न करने पर भी लाभ नहीं हो पाता है। दान न देना, किसी को लाभ होता हो उसमे बाधा पहुँचाना, जिनेश्वर देव की पूजादि मे अन्तराय करना। हिंसादि पाप करना, धर्म करने मे अन्तराय डालना इत्यादि से अन्तरायकर्म बधता है। इसकी उत्कृष्ट स्थिति ३० कोडा-कोडी सागर की है, एवं जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की है।

इन आठ कर्मों मे से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म घाती कहलाते हैं। शेष चार वेदनीय आयु, नाम और गोत्र अघातीकर्म कहे जाते है।

घाती-अघाती—जो आत्मा के स्वाभाविक गुण, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख (आनन्द) आदि गुणों का घात करते है, वे घाती कर्म कहलाते हैं। इन कर्मों का सर्वथा क्षय किये बिना आत्मा सर्वज्ञ, केवली नहीं बन सकता। जो कर्म मुख्य गुणों का तो घात नहीं कर सकते, वास्तविक आत्मस्वरूप को नष्ट करने की शक्ति तो इनमे नहीं होती किन्तु प्रतिजीवी गुणों का घात अवश्य करते हैं। जिससे आत्मा को शरीर, गति, जाति आदि की फंद मे पड़ा रहना पड़ता है। इनका प्रभाव केवल शरीर, इन्द्रिय, आयु आदि पर ही पड़ता है। जबतक जीव शरीर धारण करता है, तब तक ये साथ रहते हैं। इन कर्मों का संबंध इस जन्म तक ही रहता है। ये आत्मा के गुणों का घात नहीं करते, अतः इन्हें अघाती-कर्म कहा जाता है।

क्या कर्मों को काटा जा सकता है ?

कर्मों को कैसे काटा जाय, इस प्रश्न को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि आत्मा कर्म जाल मे क्यों और कैसे पड़ता है। कर्म

जाल में फँसाने वाले हैं, व्यक्ति के मिथ्यात्वादि आस्रव एवं मानसिक आवेग। क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष आदि आवेगों से व्यक्ति कर्मजाल में फँसता है। यदि इन आवेगों को व्यक्ति धीरे-धीरे कम करता जाय तो कर्म-बंध भी धीरे-धीरे कम होता जायगा। एक दिन वह आयेगा कि संवर द्वारा नवीन कर्म बंध का सिलसिला बिल्कुल ही टूट जायगा। और निर्जरा द्वारा पुराने कर्म भोग लेने पर वे स्वयं क्षीण हो जायेंगे। इस तरह बीज के नाश हो जानेपर वृक्ष की परंपरा स्वतः नष्ट हो जाती हैं तो आत्मा का अपना सत्‌चित्‌-आनन्दमय स्वरूप पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाता है। आस्रव से बंध होता है एवं संवर और निर्जरा से मोक्ष, यही जैनधर्म का सार तत्व है। कर्म-सिद्धान्त का दिव्य-सन्देश है कि हे आत्मन्! तुम ही अपने जीवन के निर्माता और भाग्य-विधाता हो। अच्छे कर्म करके अच्छे बन सकते हो और बुरे कर्म करके बिगड़ सकते हो। जो कुछ संसार के सुख-दुख, संपत्ति विपत्ति हैं, वे बाहर से नहीं आई हैं और न दूसरे ने थोपी हैं। कहा है

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूड सामली।
अप्पा कामदुहाधेणू, अप्पा मे नंदण वणं॥

तुम्हारी आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूट शाल्मली वृक्ष है कामधेनु है, और नन्दनवन है। यह आत्मा अपने सुख-दुख का कर्ता-भोक्ता स्वयं है। इस प्रकार कर्म सिद्धान्त सुख और दुख दोनों स्थिति में समभाव पूर्वक जीवन बिताने की सीख देता है। जो कुछ आया है वह अपने ही किये कर्मों का फल है, अतः शान्ति से भोगलो! दूसरों को दोष देने से कोई फायदा नहीं, अपितु नये कर्म और बंधेंगे।

गुणस्थान :

हमने देखा कि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग और प्रमाद कर्मबंध के कारण हैं। जैसे-जैसे ये तीव्र होते हैं वैसे-वैसे कर्मबंध भी तीव्र होता है। किन्तु जैसे जैसे ये कम होते जाते हैं, वैसे वैसे कर्मबन्ध भी हलका होता जाता है और आत्मा में सम्यक्त्वादि आत्मिक गुणों का विकास होता

जाता है। कर्मबन्ध की जब तीव्रता होती है तब आत्मा अविकसित दशा की अन्तिम स्थिति मे होती है। और जब कर्म एकदम नष्ट हो जाते हैं तब आत्मा अपने पूर्ण शुद्ध स्वरूप में आजाती है। इन दोनों स्थितियों के बीच आत्मा नीची-ऊँची कई अवस्थाओं का अनुभव करती है। अतः आत्मा की अविकसित अवस्था से लेकर उसकी पूर्ण शुद्ध अवस्था तक की स्थितियों को चौदह भागों मे वर्गीकृत किया गया है। वे चौदह स्थितियाँ ही 'गुणस्थान' कहलाती है।

गुणस्थान में दो शब्द हैं गुण और स्थान। गुण यानी आत्मा के गुण-ज्ञान दर्शन और चारित्र। उनका स्थान अर्थात् अवस्था। अतः गुण-स्थान का अर्थ हुआ आत्मा के गुणों के विकास की अवस्था।

गुणस्थान आरोहण का मुख्य आधार

आठ कर्मो में मोहकर्म बलवान् है। जबतक मोह बलवान् है, तभी-तक अन्य कर्म भी बलवान् है। मोह के निर्बल होते ही ये सभी निर्बल होजाते है। अतः आत्मा के विकास मे मुख्य बाधक मोह की प्रबलता ही है और सहायक मोह की निर्बलता है।

मोह कर्म के दो भेद हैं। १ दर्शनमोहनीय इसके कारण स्व-पर रूप का निर्णय नहीं हो पाता। २ चारित्रमोहनीय-यह स्व-पर का विवेक हो जाने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति नहीं होने देता। आत्मा के विकास के लिये सत्स्वरूपदर्शन और तदनुसार प्रवृत्ति दोनों आवश्यक है। किन्तु जबतक मोह की ये दोनों शक्तियाँ निर्बल नहीं होती तबतक बोध और प्रवृत्ति दोनों नहीं हो सकते।

इसप्रकार गुणस्थान के आरोहण मे मोहकर्म का मद, मंदतर, मदतम और क्षय होना मूल आधार है। इसी आधार पर गुणस्थानों का क्रम निर्धारित किया गया है।

पहिले, दूसरे और तीसरे गुणस्थान तक आत्मा की दर्शन व चारित्र-शक्ति का विकास नहीं होता, क्योंकि उनमे प्रतिबंध मोह की शक्तियाँ प्रबल रहती है। चौथे गुणस्थान मे दर्शन-मोह के निर्बल हो जाने से-दर्शन-

शक्ति का विकास प्रारंभ होजाता है। पांचवें में चारित्रमोह के निर्बल हो जाने से चारित्र-शक्ति का विकास प्रारम्भ हो जाता है। छट्ठे गुणस्थान में साधु-जीवन की साधना शुरु होजाती है। आत्मा विकसित होती हुई सातवें आठवें आदि गुणस्थानों को पार करती हुई बारहवें गुणस्थान में पहुँचकर दर्शन और चारित्रमोह का सर्वथा क्षय करदेती है और उसकी दर्शन और चारित्र शक्तियाँ पूर्ण रूप से विकसित होजाती है। तब आत्मा अरिहंत बन जाती है।

गुणस्थान स्वरूप

१. मिथ्यात्व-गुणस्थान दर्शनमोह के प्रबलतम उदय के कारण, जीवादितत्वों एव देव-गुरु-धर्म पर विपरीत श्रद्धा रहती है। फिर भी यहाँ व्यक्ति अहिंसा, सत्य आदि गुणों को उत्तम मानता है अत इस गुण की अपेक्षा उसकी इस अवस्था को भी गुणस्थान कहा।

इस गुणस्थान वाले जीव विवेक-शून्य होते है, सद्धर्म को नहीं मानते। कई जीव मानते हैं तो दुराग्रहवश कुधर्म को मानते हैं, विपरीत श्रद्धा रखते हैं। अनन्त जीव ऐसे हैं जो कभी इस स्थिति से बाहर न निकले पाये हैं न निकले सकेंगे।

२ सास्वादान गुणस्थान पहिले गुणस्थान की अपेक्षा यहाँ इतना विकास होता है कि आत्मा को यहाँ मिथ्यात्व का उदय नही रहता। यह गुणस्थान चढ़ते हुए नहीं अर्थात् पड़ते हुए प्राप्त होता है। जीव सम्यक्त्व पाकर भी अनन्तानुबन्धी कषायों के उदय के कारण पुनः सम्यक्त्व मे शिथिल हो जाता है और सम्यक्त्व के भावों से उसका पतन होता है। किन्तु गिरता हुआ जबतक मिथ्यात्व मे नहीं पहुँच जाता तबतक की स्थिति 'सास्वादान' कहलाती है। गिरते-गिरते भी यहाँ सम्यक्त्व का कुछ आस्वाद रहने से यह 'सास्वादन' कहलाते हैं। यह स्थिति ६ आवलिका तक रहती है। (१, ६७, ७७, २१६=४८ मिनट) इसके बाद मिथ्यात्व तुरन्त उदय मे आ जाता है और जीव को मिथ्यात्व-गुणस्थान मे गिरा देता है।

३. मिश्रगुणस्थान इस गुणस्थान में मिथ्यातत्त्व पर तो रुचि नहीं होती किन्तु सम्यक्त्व पर भी न रुचि होती है, न अरुचि होती है। सत्यासत्य का विवेक न होने से यहाँ जीव के मिश्र परिणाम रहते हैं, अतः यह गुणस्थान 'मिश्र' कहलाता है। यह गुणस्थान सम्यक्त्व से गिरते हुए को, जब मिश्र मोहनीय का उदय होता है, तब होता है।

४ अविरति सम्यग्दृष्टि—सावद्य (पाप) क्रियाओं का त्याग करना विरति है। चारित्र और व्रत भी विरति कहलाते हैं। जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार का व्रत-नियम-धारण नहीं कर सकता, उस अवस्था विशेष को "अविरति-सम्यग्दृष्टि" गुणस्थान कहा जाता है।

५. देशविरति-गुणस्थान—सम्यक्त्व प्राप्त होने के बाद जीव को यह समझ में आ जाता है कि हिंसा-झूठ आदि अकरणीय है। त्याज्य है। किन्तु प्रत्याख्यानावरण के उदय से जीव सर्वथा तो हिंसादि पापों से निवृत्त नहीं हो सकता परन्तु अंशतः उनका अवश्य त्याग करता है। यह आंशिक त्यागमय स्थिति "देशविरति-गुणस्थान' कहलाती है।

श्रावक स्थूल हिंसादि का त्यागी होकर भी सूक्ष्म हिंसादि पापों से विरत नहीं हो पाता।

६. प्रमत्त संयत गुणस्थान : प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय न रहने से हिंसादि पापों से सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। संयम ग्रहण कर लेता है। किन्तु प्रमाद रहने से कुछ दोष अवश्य लगते हैं। प्रमाद होने से तथा संयम भी रहने से इसे प्रमत्त संयत-गुणस्थान कहा जाता है।

७. अप्रमत्त-संयत-गुणस्थान जो मुनि निद्रा, विषय, कषाय, विकथा आदि प्रमादों का सेवन नहीं करते वे अप्रमत्त-संयत हैं और उनका स्वरूप विशेषतः 'अप्रमत्त संयत-गुणस्थान' है। प्रमत्तसंयत जब ज्ञान ध्यान-तप आदि में लीन होता है तब उनके आत्मप्रदेश में प्रमाद नहीं होता और वे ही अप्रमत्त-संयत हो जाते हैं। किन्तु यह स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है। इसके बाद या तो छट्ठे में जाते हैं, या आठवें में।

८. अपूर्वकरण-गुणस्थान इसमे अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण इन तीन बादर कषायों की निवृत्ति हो जाती है। केवल संज्वलन कषाय ही शेष रहते हैं। इसलिये इसे निवृत्तिबादर भी कहते हैं।

यहाँ से दो श्रेणियाँ प्रारम्भ होती है उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणीवाला मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम करता हुआ ग्यारहवें गुणस्थान तक जाता है और क्षपकश्रेणी वाला मोहनीय कर्म का क्षय करके दसवें गुणस्थान से सीधा बारहवें गुणस्थान मे पहुँच जाता है। उसका अधःपतन कभी नही होता, वह आगे ही बढता है। किन्तु उपशम श्रेणीवाला पीछे ही पड़ता है, आगे नहीं जाता।

इस गुणस्थान मे वर्त्तमान जीव निम्नलिखित पाँच पदार्थों का अपूर्व-विधान करता है।

१. स्थितिघात कर्मों की लम्बी स्थिति को घटाकर छोटी करना।

२. रसघात—कर्मों की तीव्रफल देने की शक्ति को मंद करना।

३ गुणश्रेणी—जिन कर्मों का स्थितिघात किया था, उनको भोगने के लिये सर्वप्रथम के अन्तर्मुहूर्त्त मे स्थापित करें।

४. गुणसक्रमण पहले बधी हुई अशुभ-प्रकृतियों को वर्तमान मे बधनेवाली शुभ-प्रकृतियों के रूप मे परिणत कर देना।

५. अपूर्व-स्थितिबध पहले की अपेक्षा अत्यन्त अल्पस्थिति के कर्म बाँधना।

ये स्थितिघातादि पहले गुणस्थान से प्रारभ हो जाते हैं, लेकिन इस गुणस्थान मे उनका विधान अपूर्व अद्भुत होता है, इसलिये इस गुणस्थान को 'अपूर्वकरण' कहते है।

९. अनिवृत्तिबादर सपराय-गुणस्थान—यहाँ अनतानुबंधी आदि तीन कषाय चतुष्क तो उपशान्त या क्षय हो गये। किन्तु सज्वलन कषाय पूरी निवृत्त नही होती। तथा इस गुणस्थान मे एक साथ प्रवेश करने

वाले सभी जीवों के भाव गुणस्थान-काल में एक ही से बढ़ते रूप में होते हैं अतः इसे 'अनिवृत्तिबादर' कहते हैं।

१०. सूक्ष्मसंपराय-गुणस्थान संपराय=कषाय। यहाँ संज्वलन लोभ रहता है। अत. इसे सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थानवर्ती जीव भी उपशमक और क्षपक दो होते हैं। उपशमक लोभ कषाय का उपशमन और क्षपक लोभ कषाय का क्षय करते हैं।

११. उपशान्तमोह गुणस्थान उपशमश्रेणीवाला जीव दसवें गुणस्थान से ग्यारहवें में आता है किन्तु क्षपक श्रेणीवाला जीव यहाँ न आकर सीधा बारहवें मे पहुँच जाता है। यहाँ मोहनीय कर्म अमुक समय तक एकदम उपशान्त हो जाता है। अत. इसे उपशान्तमोह कहते हैं। किन्तु यह स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त रहती है, उसके बाद मोहनीय कर्म उदय प्राप्त कर जीव को निम्न गुणस्थानों में घसीट ले जाता है। छठे, सातवें, पाँचवें, चौथे या पहिले गुणस्थान तक मे पहुँच जाता है।

१२. क्षीणमोह गुणस्थान क्षपकश्रेणीवाले जीव, जो मोह को पहिले से ही क्षय करते आये हैं, वे दसवें गुणस्थान मे सर्वमोह का नाश कर सीधे बारहवें मे पहुँच जाते हैं। मोहक्षीण हो जाने के कारण इसे क्षीणमोह कहते हैं। किन्तु यहाँ ज्ञानावरण आदि घाती कर्मों का उदय फिर भी चालू रहता है, अतः वे सर्वज्ञ नहीं बनते।

१३. सयोगी-केवली गुणस्थान बारहवें के अन्त में जिन्होंने समस्त घातीकर्मों का नाश कर, केवलज्ञान-केवलदर्शन पा लिया है, किन्तु जो मन-वचन और काययोग सहित हैं, उनका स्वरूप विशेष सयोगी केवली-गुणस्थान कहलाता है। किसी के प्रश्न का उत्तर देने के लिये केवली को मन का प्रयोग करना पड़ता है, धर्मोपदेश देने के लिये वचनयोग का तथा हलन-चलन आदि क्रियाओं के लिये काययोग का प्रयोग करना पड़ता है। अतः वे सयोगी है।

१४. अयोगी-केवली केवली की योगरहित अवस्था 'अयोगी-केवली-गुणस्थान' है। जब केवली के आयुकर्म का क्षय होने का समय आता है, तब

के योगों का निरोधकर इस गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। यहाँ सर्वयोगों का निरोध हो जाने से आत्मा शैलेश-पर्वतराज मेरु की तरह निष्कम्प हो जाती है। (यह शैलेशीकरण है) यहाँ आत्मा मात्र पाँच ह्रस्वाक्षरों (अ, इ, उ, ऋ, लृ) के उच्चारण में जितना समय लगता है, उतने समय में शेष रहे हुए, वेदनीय, नाम, गोत्र एवं अन्तराय कर्मों (अघातीकर्म) का क्षय कर, सर्वकर्मरहित, अनन्तज्ञान सुखादिमय मोक्ष को पा लेती है। सर्वकर्म क्षय होते ही मात्र एक ही समय में चौदह-राजलोक के ऊपर 'सिद्धशिला' पर जाकर शाश्वत काल के लिए स्थित हो जाती है।

शुद्ध आत्मास्वरूप की उपलब्धि करना, कर्म-बंधन से मुक्त होना, जीव-मात्र का लक्ष्य है। इस स्वरूप की प्राप्ति के लिये की जानेवाली साधना से जो आत्म-गुणों का क्रमिक विकास होता है। वही गुणस्थानों के द्वारा दर्शाया गया है। एक दिन ऐसा होता है कि इस क्रमिक-विकास से आत्मा अपने स्वरूप को उपलब्ध कर मुक्त बन जाती है।

आत्मा की शुद्ध या अशुद्ध स्थिति गुणस्थान है और उनमें रहनेवाले आत्मा के परिणामों को लेश्या कहते हैं। अतः गुणस्थानों और लेश्या परिणामों में इतना निकट का संबंध है कि वे एक दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं।

:o:

लेश्या

आत्मोत्कर्ष के मापदण्ड स्वरूप गुणस्थानों के साथ लेश्या का भी विशेष महत्व है। कषायों की अनुरंजित योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। जिनके द्वारा आत्मा में शुभाशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे लेश्या हैं।

लेश्या के दो भेद हैं द्रव्य लेश्या और भाव लेश्या। जिन पुद्गलों के द्वारा आत्मा के विचार क्षण प्रतिक्षण बदलते रहते हैं, वे पुद्गल द्रव्य लेश्या है, तथा आत्मा के परिणाम भाव लेश्या हैं। ये संक्लेश और योग से बनते हैं। संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम होने से आत्मा के परिणाम बदलते हैं और तदनुसार परिवर्तित अवस्थाएँ विभिन्न लेश्याएँ हैं।

लेश्याओं के नाम व लक्षण

लेश्या छः हैं १. कृष्ण लेश्या २. नील लेश्या ३. कापोत लेश्या ४. तेजो लेश्या ५. पद्म लेश्या ६. शुक्ल लेश्या।

१. कृष्ण लेश्या जिसमें क्रूरता, निर्दयता एवं पांचों आश्रवों की प्रवृत्ति के तीव्र भाव हों और जो इन्द्रियों को वश में नहीं रख सके ऐसे परिणामों से युक्त जीव कृष्ण लेश्या वाले होते हैं। इसका वर्ण काला माना जाता है, जिससे तात्पर्य कालेरंग के कर्म पुद्गल एवं कलुषित भावों से है।

२. नील लेश्या- ईर्ष्या, अविद्या, निर्लज्जता, रस लोलुपता, कपट, प्रमाद आदि दुर्गुणों से युक्त जीव नील लेश्या वाले होते हैं। नीले रंग के कर्मपुद्गलों के कारण इसका नाम नील लेश्या है।

३. कापोत लेश्या—नास्तिकता, बोलने एवं आचरण करने मेवक्रता मिथ्यादृष्टि, छल कपट का व्यवहार आदि परिणामों से युक्त जीव कापोत लेश्या वाला होता है। इसको वर्ण कबूतर के गले के समान (लाल काला मिश्रित) माना गया है।

४. तेजो लेश्या नम्र, अहकार रहित, माया रहित, विनीत, धर्म दृढ एवं स्वाध्यायरत परिणामों से युक्त जीव तेजो लेश्या वाला होता है। इन कर्म पुद्गलों का वर्ण तोते की चोच के समान रक्तिम माना गया है।

५. पद्म लेश्या अल्प क्रोध, अल्पमान, अल्प लोभ, आत्मरमन, शांत-चित्त, जितेन्द्रियता, सयम आदि परिणामों से युक्त जीव पद्म लेश्या वाला होता है। क्रोधादि कषायो की मन्दता होने के कारण जो कर्म पुद्गल आत्मा से आबद्ध होते हैं उनका वर्ण हल्दी के समान माना गया है।

६. शुक्ल लेश्या जब केवल श्वेत वर्ण के कर्म पुद्गलों का निष्पंद होता है और व्यक्ति अशुभ ध्यान (आर्त एवं रौद्र) त्याग कर शुभ ध्यान मे (धर्म एवं शुक्ल) प्रवृत्त होता है और वीतराग भाव की अनुकूलता प्राप्त करता हैं तो शुक्ल लेश्या के लक्षण हैं।

वस्तुत' मलीनता एवं शुद्धता की स्थिति की तरतमता को बतलाने वाली प्रक्रिया ही लेश्या है। जिस प्रकार विविध रगों वाले पानी मे श्वेत वस्त्र डाल देने से वह वस्त्र तदनुसार रंग ग्रहण कर लेता है उसीप्रकार आत्मिक परिणामों से उत्पन्न स्थिति से चारों तरफ गिरे हुए कर्म वर्गणाओं के पुद्गल आत्मा से चिपक कर आत्मा को तदनुरूप बना लेते हैं।

आज भौतिक विज्ञान की दृष्टि से लेश्या का पूर्ण ज्ञान (विश्लेषण) मिल जाता है। मनोगत भावों का तथा उनके पुद्गल परिवर्तन का फोटो खींचना सहज हो गया है। शांत निर्विकार भावों एव मलिनता तथा क्रूरता के भावों के फोटो मे परिवर्तित रूप इस स्थिति को स्पष्ट कर देते हैं।

लेश्या के छः भेद को छः पुरुषों के काल्पनिक विचारों द्वारा स्पष्ट

किया जा सकता है उदाहरण के लिए एक जंगल मे छः पुरुषों ने एक आम्र वृक्ष देखा और अपने अपने विचार प्रकट करने लगे।

प्रथम (कृष्ण लेश्या वाला) इस आम के पेड़ को समूल काट कर आम्र फलों से हम तृप्ति कर लें।

दूसरा (नील लेश्या वाला) सारे वृक्ष को क्यों काटें? हम तो डालों काट कर उसके फल खा लें।

तीसरा (कापोत लेश्या वाला) बड़ी डालियाँ क्यों काटें? हम छोटी टहनियाँ ही काट कर उनके फल खा लें तो तृप्ति हो जायगी।

चौथा (तेजो लेश्या वाला) वृक्ष, डालियाँ एवं टहनियाँ काटने से हमे क्या लाभ? हम फलों के गुच्छे ही तोड़कर खा लें तो पर्याप्त है। वृक्ष को नष्ट क्यों करें।

पाँचवां (पद्म लेश्या वाला) हम फलों के गुच्छों को क्यों तोड़ें? हमे तो जितने फल चाहिए तोड़कर खा लेने चाहिए।

छट्ठा —(शुक्ल लेश्या वाला) भाइयो! आप सभी इतना पापारम्भ करने की क्यों सोच रहे हैं? देखो नीचे कितने फल पड़े हुए है? हम तो इनको भी खालें तो तृप्त हो सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन मे जो शुभाशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं उन्हें ही विविध लेश्याओं के नाम से जाना जाता है। कृष्ण से क्रमश शुक्ल लेश्या की ओर बढ़ कर ही आत्मा विकास कर सकती है।

लेश्या के सन्दर्भ में हमे यह देखना है कि मन के शुभाशुभ-परिणाम कैसे सस्कार एवं कर्मों को उत्पन्न करते हैं उनका क्या फल आता है।

०

संस्कारों का गुणाकार होता है

मन मानव-जीवन की अमूल्य उपलब्धि है। हमारे मनीषियों ने कहा है कि-"मन एव मनुष्याणां, कारणं बंध मोक्षयोः"। मनुष्यों का मन ही उनकी मुक्ति का एवं कर्मबंध का कारण है। मन में जैसे विचार उत्पन्न होते हैं, व्यक्ति वैसा कार्य करता है। और व्यक्ति जैसा कार्य करता है, वैसे उसके संस्कारों का निर्माण होता है। इस प्रकार जबतक कोई बाधक न आवे तब तक संस्कारों और कार्यों का यह क्रम चलता रहता है।

एक आम का बीज बोने पर क्रमशः वह पल्लवित एवं पुष्पित होता हुआ एक वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। वह वृक्ष यदि हवा, पानी प्रकाश एवं खाद की अनुकूलता हो तो पुनः असंख्य बीजों को उत्पन्न करता है। वैसे मन का एक सुसंस्कार या कुसंस्कार अनेक अच्छे या बुरे कार्यों को जन्म देता है, और उन कार्यों के फलस्वरूप अनेक सुसंस्कार या कुसंस्कार पुनः मन में जन्म लेते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि-संस्कारों का तथा पुण्य एवं पाप का गुणाकार होता है।

सुसंस्कारों का, पुण्य का गुणाकार कैसे होता है? यह हम मेघकुमार के दृष्टान्त द्वारा बड़ी आसानी से समझ सकते हैं।

'मेघकुमार' राजा श्रेणिक के लड़के थे। वे पूर्वभव में हाथी थे। वन में आग बहुत लगा करती थी अतः आग से अपने परिवार को बचाने के लिए उस हाथी ने वन के एक प्रदेश को वृक्ष-पत्ते आदि काटकर मैदान बना दिया था। एक दिन जंगल में आग लग गई, कुछ ही देर में पशु-पक्षियों में भगदड़ मच गई और पशु-पक्षी उस साफ मैदान

को सुरक्षित देख वहाँ पहुँच गये। हाथी भी वहाँ पहुँचा। एक तरफ थोड़ी सी जगह देखकर खड़ा हो गया हाथी ने खुजाल मिटाने के लिये पैर ऊपर उठाया, इतने ही में एक भयभीत खरगोश अपनी जान बचाने हेतु अन्यत्र कहीं जगह न पाकर हाथी के 'पैर' की जगह आकर बैठ गया। खुजालने के बाद हाथी जब पैर रखने लगा तो देखा कि नीचे खरगोश बैठा है। यदि पाँव नीचे रखा तो रखते ही खरगोश दब जायगा और मर जायगा। अतः जीवदया के भाव से उसने पैर ऊपर ही उठाये रखा।

तीसरे दिन जब आग शान्त हो गई, सभी पशु अपने २ स्थान पर चले गये, खरगोश भी चला गया, तब हाथी ने अपना पैर नीचा करना चाहा। किन्तु अकड़ने के कारण पैर जम नहीं पाया और उसकी तीव्र वेदना से हाथी स्वयं लुढक गया। इस तरह वेदना सहन करता हुआ, दया-भाव में मरकर श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार बना।

मेघकुमार जब बड़े हुए तब एकदिन भगवान् महावीर की अमृतमयी देशना सुनने का मौका मिला। इससे उन्हें, प्राणिमात्र के प्रति दया-भाव उत्पन्न होने से दीक्षा ग्रहण की भावना हो गई, अन्त में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की। रात्रि में सोते समय उनका नम्बर अन्त में आया, फलस्वरूप रात को मात्रा आदि के लिये गमन-आगमन करते हुए मुनियों के पैर की धूल उनपर गिरने से, बार-बार आहट आने से सारी रात उन्हें नींद नहीं आई और उनका मन घर लौटने का हो गया। प्रातःकाल होते ही मेघमुनि आज्ञा लेने हेतु भगवान् के पास गये तो सब कुछ जानते हुए प्रभु ने संयम में स्थिर करने हेतु उन्हें, उनका पूर्वभव याद दिलाया और पुनः उन्हें सयम में स्थिर किया। मेघमुनि भी खूब आराधना-साधना कर अन्त में अनुत्तर-विमान में देव बने।

इसी तरह हम देखते हैं कि पूर्वभव में एक प्राणी के प्रति दयाभाव रखने से अगले भव में-उस शुभ विचार पुन्यकार्य द्रव्य क्षेत्र काल और भाव

को दृष्टि से कई गुणा अधिक करने का मौका मिला। इसे हम निम्न तालिका द्वारा सरलता से समझ सकते हैं।

	द्रव्य	क्षेत्र	काल	भाव
	हाथी	जंगल	ढाई दिन	एक प्राणी पर दया
अगले जन्म मे	राजकुमार मेघकुमार	सारा ससार	सारा जीवन	प्राणिमात्र पर दया

इसी तरह विषय-कषाय के विकारों के लिये भी देखा जा सकता है कि यदि उनको नही रोका गया तो वे कैसे गुणाकार होकर मिलते है। कषायों के गुणाकार के रूप में हम चण्डकौशिक के जीवन को ले सकते हैं कि कैसे उसके कषाय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के रूप मे एक जीवन से दूसरे जीवन मे बड़े चढे मिलते हैं।

चण्डकौशिक के जन्म से अपने तीसरे भव मे वह एक तपस्वी एवं ज्ञानी मुनी था। एकदिन वह मुनि अपने छोटे शिष्य के साथ बाहर गये। चातुर्मास होने से चारों ओर छोटे २ मेढक फुदक रहे थे। अनुपयोग से एक मेढक मुनि के पैर के नीचे दबगया। छोटे मुनि ने बड़े मुनि का ध्यान इस ओर खींचा। किन्तु मुनि अपने अह के कारण सुनी अनसुनी कर गये। उपाश्रय मे भी समय-समय पर प्रायश्चित करने के लिये छोटे मुनि ने बड़े मुनि को घटना याद दिलाई जब गुरु ने कोई ध्यान नहीं दिया तो अन्त मे रात्रि को सोने से पूर्व शिष्य ने फिर गुरु को ध्यान दिलाया, इससे गुरु को बड़ा क्रोध आया और वे उस शिष्य को मारने दौडे। बच्चा होने के कारण शिष्य तो अन्धेरे मे कहीं गायब हो गया, किन्तु गुरुजी दौडते हुए खम्भे से टकरा गये, सिर फूट गया और मर गये।

मरकर दूसरे जन्म मे तापस बने। उनका स्वभाव बड़ा क्रोधी था। उनके आश्रम मे एक छोटा सा बगीचा था। उसमे वे किसी को भी नहीं घुसने देते थे। बगीचे मे यदि कोई घुस जाता तो फरसा लेकर

उनको मारने दौड़ते। एक दिन तीन-चार राजकुमार चुपके से उनके बगीचे में घुस गये। जब उन्हें पता लगा तो फरसा लेकर उनके पीछे दौड़े। बच्चे होने से वे भाग गये, बाबाजी उनके पीछे २ दौड़ने लगे। क्रोध मे कुछ सूझा नहीं और बाबाजी रास्ते मे आने वाले गड्ढे मे गिरगये। हाथ का फरसा सिर मे ऐसा लगा कि सिर फूट गया और उन दो चार राजकुमारों को मारने की भावना मे बाबाजी की मृत्यु होगई। मरकर चण्डकौशिक सर्प बने। कषायों के गुणाकार के फलस्वरूप वह सर्प 'दृष्टि विष' बना। जिसकी ओर देख ले वहीं वहाँ खत्म। बारह....बारह कोश के परिमाण मे जो आता सभी भस्म। सारे जगल को वीरान करदिया।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि कषाय (क्रोध) के कुसंस्कारों के कारण एक मुनि की उच्च आत्मा कितनी निम्न स्थिति मे पहुंच गई। कैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव बढा। यह निम्न तालिका द्वारा समझा जासकता है।

	द्रव्य	क्षेत्र	काल	भाव
१	—जैनमुनि	उपाश्रय	अल्प समय	शिष्यपर क्रोध
२	तापस	आश्रम	जीवन का अंत समय	३-४ राजकुमारों पर क्रोध
३	चण्डकौशिक	पूराजंगल!	सारा-जीवन	सभी प्राणी

इस प्रकार पूर्वोक्त दृष्टान्तों के द्वारा हम अच्छी तरह समझ जाते हैं कि सुसस्कार और कुसस्कार दोनों का ही उत्तरोत्तर गुणाकार होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि सुसस्कार के साथ कुसस्कार मिल जाते हैं और कुसंस्कार के साथ सुसंस्कार मिल जाते हैं फलतः उनसे होने वाले कर्म पुण्य व पाप भी दो-दो तरह के होते हैं। इसे पुण्य-पाप की चतुर्भंगी कहते हैं।

(१) पुण्यानुबंधी-पुण्य · पुण्य को बंधानेवाला पुण्य, पुण्यानुबंधी-पुण्य कहलाता है। जैसे शालिभद्र का पुण्य। पुण्य भोगते हुए धर्म साधन द्वारा पुनः नया ही पुण्य बांधना।

(२) पापानुबंधी-पुण्य : पुण्य भोगते हुए पाप का बंध करना। 'सुभूम' चक्रवर्ती की तरह। सुभूमने चक्रवर्तीपन का महान् पुण्य भोगते हुए, विषय-कषाय, हिंसा-झूठ आदि पापों द्वारा नया पाप बंधन किया। अतः उसका पुण्य पापानुबंधी-पुण्य कहलाता है।

(३) पुण्यानुबंधी-पाप : पाप के उदय में अर्थात् दरिद्रता रुग्णता आदि अवस्था में भी समता एवं शान्तिपूर्वक धर्म साधना करते हुए पुण्य उपार्जन करता है। जैसे चण्डकौशिक।

(४) पापानुबंधी-पाप : पाप के उदय में अर्थात् दरिद्रता, रुग्णता आदि पापों को भोगते हुए, पुन हिंसादि द्वारा नये पाप-कर्मों को ही बांधना पापानुबंधी पाप कहलाता है। जैसे कालिक कसाई की तरह।

अत पुण्य भोगते हुए जीव को यह सावधानी रखना चाहिये कि-कहीं विषय विकार में पड़कर, एशो आराम में बेहोश हो, पापबंध न हो जाय।

जो पुण्य धर्म सामग्री को उपलब्ध कराकर मोक्ष-मार्ग की ओर लेजाने वाला है, वह पुण्य यदि पाप-बंध में निमित्त बनता है तो फिर मोक्ष-मार्ग पाने का कोई रास्ता ही नहीं रहेगा।

०

सम्यक् चारित्र

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के अनुसार यथार्थरूप से अहिंसा, सत्य आदि सदाचारों का पालन करना ही सम्यक्चारित्र है। इसके दो भेद हैं। (१) देशविरति और (२) सर्वविरति।

१. देशविरति देश=अंश, विरति=त्याग अर्थात् हिंसादि पापों का आंशिक त्याग करना तथा व्रतों का मर्यादित पालन करना देशविरति चारित्र धर्म कहलाता है।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद जीव को संसार, आरंभ, परिग्रह, विषय-विकार इत्यादि जहर जैसे लगते हैं। वह जीव प्रतिदिन विचार करता है कि "कब वह इस पाप भरे संसार का त्यागकर, मुनि बनकर दर्शन, ज्ञान, चारित्र की आराधना करेगा? यद्यपि वह एकदम संसार का परित्याग करदे यह सम्भव नहीं होता तथापि विचार ही चलता रहता है। और जबतक सर्वतः पापों का त्यागकर साधु-जीवन न अपनाले तबतक वह जीव अंश्य पाप त्याग रूप देशविरति-श्रावक धर्म का अवश्य पालन करता है। इसमें सम्यक्त्वव्रत पूर्वक स्थूलरूप से हिंसादि का त्याग तथा सामायिकादि धर्म-साधना करने की प्रतिज्ञा की जाती है।

मार्गानुसारी जीवन जैसे 'देशविरति' इत्यादि आचारधर्मों की प्राप्ति के लिये सम्यग्दर्शन का होना आवश्यक है, वैसे सम्यग्दर्शन से पूर्व 'मार्गानुसारी जीवन' आवश्यक है। सम्यग् दर्शन-ज्ञान चारित्र, मोक्ष मार्ग है। उसके प्रति अनुसरण कराने वाला....उसके लिए योग्य बनाने वाला जीवन मार्गानुसारी जीवन है। जैसे महल के लिये मजबूत नींव की आवश्यकता है, वैसे धार्मिक विकास क्रम के लिये मार्गानुसारी जीवन

पूर्व-भूमिका है। अतः यहाँ देश विरति-धर्म की चर्चा करने से पहिले मार्गानुसारी जीवन के बारे मे बताया जाता है।

शास्त्र मे मार्गानुसारी जीवन के ३५ गुण बताये हैं। इन ३५ गुणों को चार भागो मे विभक्त किया जाता है।

(१) ११ कर्त्तव्य
(२) ८ दोष
(३) ८ गुण
(४) ८ साधनायें।

११ कर्त्तव्य :

(१) न्याय-संपन्न-विभव गृहस्थ-जीवन का निर्वाह करने के लिये धन कमाना अत्यावश्यक है। किन्तु न्याय-नीति से धन का उपार्जन करना यह मार्गानुसारी-जीवन का प्रथम-कर्त्तव्य है।

(२) आयोचित-व्यय आय के अनुसार ही खर्च करना। तथा धर्म को भूलकर अनुचित खर्च न करना यह 'उचित खर्च' नामक दूसरा कर्त्तव्य है।

(३) उचित-वेश अपनी मान मर्यादा के अनुरूप उचित वेश-भूषा रखना। अत्यधिक तड़कीले-भड़कीले, अगों का प्रदर्शन हो तथा देखनेवालों को मोह व क्षोभ पैदा हो ऐसे वस्त्रों को कभी भी नहीं पहिनना।

(४) उचित-मकान जो मकान बहुत द्वारवाला न हो, ज्यादा ऊँचा न हो, तथा एकदम खुला भी न हो ऐसे मकान उचित मकान है। चोर डाकुओं का भय न हो। पड़ोसी अच्छे हो, ऐसे मकान में रहना चाहिये।

(५) उचित-विवाह—गृहस्थ जीवन के निर्वाह के लिये यदि शादी करना पड़े तो भिन्न गोत्रीय किन्तु कुल और शील मे समान तथा समान आचारवाले के साथ करें। इससे जीवन मे सुख शान्ति रहती है। पति-पत्नी के बीच मतभेद नहीं होता।

(६) अजीर्ण-भोजन त्याग : जबतक पहिले खाया हुआ भोजन न पचे तबतक भोजन न करें।

(७) उचित-भोजन निश्चित समय पर भोजन करें। प्रकृति के अनुकूल ही खायें। निश्चित समय पर भोजन करने से भोजन अच्छी तरह पचता है, प्रकृति से विपरीत भोजन करने से तबियत बिगड़ जाती है। भोजन मे भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विवेक करें। तामसी, विकारोत्पादक एवं उत्तेजक पदार्थों का सर्वथा त्याग करें।

(८) माता-पिता की पूजा माता-पिता की सेवा-भक्ति करें। उनके खाने के बाद खायें, सोने के बाद सोयें। उनकी आज्ञा का प्रेमपूर्वक पालन करें।

(९) पोष्य-पालक पोषण करने योग्य स्वजन-परिजन, दासी-दास इत्यादि का यथाशक्ति पालन करें।

(१०) अतिथि-पूजक : गुरुजन, स्वधर्मी, दीन एवं दुखियों को यथायोग्य सेवा करना।

(११) ज्ञानी-चारित्री की सेवा—जो ज्ञानवान्, चारित्री, तपस्वी, शीलवान एव सदाचारी हो, उसकी सेवा भक्ति करें।

८ दोषों का त्याग :

(१) निन्दा त्याग किसी की भी निन्दा न करें। निन्दा महान् दोष है। इससे हृदय मे द्वेष…ईर्ष्या बढती है। प्रेमभंग होता है। नीच गोत्र कर्म बंधता है।

(२) निन्द्य प्रवृत्ति का त्याग मन, वचन या काया से ऐसी कोई प्रवृत्ति न करें जो धर्म-विरुद्ध हो। अन्यथा निन्दा होती है, पापबंध होता है।

(३) इन्द्रिय-निग्रह अयोग्य विषय की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों को काबू मे रखना। इन्द्रियों की गुलामी में न पड़ना।

(४) आन्तर-शत्रु पर विजय काम, क्रोध, मद, लोभ, मान एवं उन्माद ये छः आन्तर शत्रु हैं। इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना

चाहिये। अन्यथा व्यावहारिक-जीवन मे नुकसान होता है और आध्यात्मिक जीवन मे पापबन्ध होता है।

(५) अभिनिवेश त्याग मन मे किसी भी बात का कदाग्रह नहीं रखना चाहिये। अन्यथा अपकीर्ति होती है। सत्य से वंचित रहना पड़ता है।

(६) त्रिवर्ग मे बाधा का त्याग धर्म, अर्थ, काम मे परस्पर बाधा पहुँचे ऐसा कुछ भी नहीं करें। उचित रीति से तीनों पुरुषार्थों की अबाधित साधना करनेवाला ही सुख शान्ति प्राप्त कर सकता है।

(७) उपद्रवयुक्त स्थान का त्याग जिस स्थान मे विद्रोह पैदा हुआ हो अथवा मारी, प्लेग इत्यादि का उपद्रव होगया हो, ऐसे स्थान का त्याग कर देना।

(८) अयोग्य-देश-काल चर्या त्याग जैसे धर्म विरुद्ध प्रवृत्ति का त्याग आवश्यक है, वैसे ही व्यवहार शुद्धि एव भविष्य मे पाप से बचने के लिये देश, काल तथा समाज से विरुद्ध प्रवृत्ति का त्याग भी आवश्यक है। जैसे एक सज्जन व्यक्ति का वेश्या या बदमाशों के मुहल्ले से बार....बार आना जाना। आधी रात तक घूमना-फिरना....स्वयं बदमाश न होते हुए भी बदमाशों की सगति करना इत्यादि देश काल एव समाज से विरुद्ध है, अतः ऐसा नहीं करना चाहिये। अन्यथा कलक इत्यादि की सम्भावना है।

८. गुणों का आदर

(१) पापभय "मेरे से पाप न होजाय" हमेशा यह भय बना रहे। पाप का प्रसग उपस्थित हो तो "हाय, मेरा क्या होगा ?" यह विचार आवें। ऐसी पापभीरुता आत्मोत्थान का प्रथम पाया है।

(२) लज्जा अकार्य करते हुए लज्जा का अनुभव हो। इससे अकार्य करते हुए व्यक्ति रुक जाता है। भविष्य मे सर्वथा अकार्य का परित्याग होजाता है।

(३) सौम्यता आकृति सौम्य-शान्त हो, वाणी मधुर एवं कोमल हो, हृदय पवित्र हो। जो व्यक्ति ऐसा होता है, वह सबका स्नेह, सद्भाव एवं सहानुभूति पाता है।

(४) लोकप्रियता अपने शील, सदाचार आदि गुणों के द्वारा लोकों का प्रेम संपादन करना चाहिये। क्योंकि लोकप्रिय धर्मात्मा दूसरों को धर्म के प्रति निष्ठावान और आस्थावाला बना सकता है।

(५) दीर्घदर्शी किसी भी कार्य को करने से पहिले, उसके परिणाम पर अच्छी तरह विचार करनेवाला हो। जिससे बाद में दुखी न होना पड़े।

(६) बलाबल की विचारणा कार्य चाहे कितना भी अच्छा हो किन्तु उसके करने से पूर्व सोचे कि उस कार्य को पूर्ण करने की मेरे में क्षमता है या नहीं। अपनी क्षमता का विचार किये बगैर कार्य प्रारम्भ कर देने में नुकसान है। एक तो कार्य को बीच में छोड़ देना पड़ता है, दूसरा लोकों में हँसी होती है।

(७) विशेषज्ञता—सार-असार, कार्य-अकार्य, वाच्य-अवाच्य, लाभ-हानि आदि का विवेक करना। तथा नये-नये आत्महितकारी ज्ञान प्राप्त करना सब दृष्टियों से भली प्रकार जान लेना विशेषज्ञता है।

(८) गुणपक्षपात : हमेशा गुण का ही पक्षपाती होना। चाहे फिर वे गुण स्वयं में हो या दूसरों में हो।

८. साधना :

(१) कृतज्ञता किसी का जरा भी उपकार हो तो उसे कदापि नहीं भूलना चाहिये। उसके उपकारों का स्मरण करते हुए यथाशक्ति उसका बदला चुकाने को तत्पर रहना चाहिये।

(२) परोपकार यथाशक्य दूसरों का उपकार करें।

(३) दया हृदय को कोमल रखते हुए, जहाँ तक हो सके, तन-मन-धन से दूसरों पर दया करते रहना चाहिये।

(४) सत्संग   सगमान दुख को बढ़ानेवाला है। कहा है "संयोगमूला जीवेण पत्ता दुक्ख परंपरा"। किन्तु सज्जन पुरुषों का....सन्तों का सग भवदुख को दूर करने वाला एवं सन्मार्ग प्रेरक होता है, अतः हमेशा सत्पुरुषों का सत्संग करना चाहिये।

(५) धर्मश्रवण   नियमित रूप से धर्मश्रवण करना चाहिये। जिससे जीवन मे प्रकाश और प्रेरणा मिलती रहे। इससे जीवन सुधारने का अवसर मिलता है।

(६) बुद्धि के आठ गुण   धर्म श्रवण करने मे, व्यवहार मे, तथा किसी के इंगित, आकार एव चेष्टाओं को समझने मे बुद्धि के आठ गुण होना अति आवश्यक है।

शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारण तथा।
ऊहाऽपोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणा: ॥

(क) शुश्रूषा   श्रवण करने की इच्छा होना शुश्रूषा है। इच्छा के बिना सुनने मे कोई रस नहीं आता।

(ख) श्रवण   शुश्रूषापूर्वक श्रवण करना। इससे सुनते समय मन इधर उधर नहीं दौड़ता है। एकाग्रता आती है।

(ग) ग्रहण   सुनते हुए उसके अर्थ को बराबर समझते जाना।

(घ) धारण   समझे हुए को मन मे बराबर याद रखना।

(ङ) ऊह   सुनी हुई बात पर अनुकूल तर्क दृष्टांत द्वारा विचार करना।

(च) अपोह   सुनी हुई बात का प्रतिकूल-तर्कों द्वारा परीक्षण करना कि यह बात कहाँ तक सत्य है ?

(छ) अर्थविज्ञान   अनुकूल प्रतिकूल तर्कों से जब यह निश्चय हो जाय कि बात सत्य है या असत्य है ? यह अर्थ विज्ञान है।

(ज) तत्त्वज्ञान   जब पदार्थ का निर्णय हो जाय तब उसके आधार पर सिद्धान्त निर्णय, तात्पर्य निर्णय, तत्त्वनिर्णय इत्यादि करना तत्त्व ज्ञान है।

(७) प्रसिद्ध-देशाचार का पालन -जिस देश मे रहते हों, वहां के (धर्म से अविरूद्ध) प्रसिद्ध आचारों का अवश्य पालन करें।

(८) शिष्टाचार-प्रशंसा हमेशा शिष्टपुरुषों के आचार का प्रशंसक रहे। शिष्टपुरुषों का आचार १ लोक मे निन्दा हो, ऐसा कार्य कभी न करना। २ दीन-दुखियों की सहायता करना ३ जहां तक हो सके किसी की उचित प्रार्थना भंग न करना। ४ निन्दात्याग ५ गुण-प्रशसा ६ आपत्ति मे धैर्य ७ सपत्ति मे नम्रता ८ अवसरोचित कार्य ९ हित-मित-वचन १० सत्यप्रतिज्ञ ११—आयोचित व्यय १२ -सत्कार्य का आग्रह १३ अकार्य का त्याग १४ बहुनिद्रा, विषय कषाय, विकथादि प्रमादों का त्याग १५ औचित्य आदि शिष्टों के आचार हैं। हमेशा इनकी प्रशंसा करना, ताकि हमारे जीवन मे भी ये आ जायें।

इस प्रकार धार्मिक जीवनके प्रारम्भ मे मार्गानुसारिता के ३५ गुणों से जीवन ओतप्रोत बनना आवश्यक हैं। क्योंकि हमारा लक्ष्य श्रावकधर्म का पालन करते हुए संसार त्यागकर साधु जीवन जीने का है, वह इन गुणों के अभाव मे प्राप्त नहीं हो सकता। इन गुणों के अभाव मे यदि व्यक्ति किसी तरह उस ओर बढ़ भी जाय तो भी वहां से पुनः उसके पतन की संभावना रहती है। मार्गानुसारी गुणों का इतना महत्व होते हुये भी कोई जरूरी नहींहै कि इन गुणोंवाले व्यक्ति मे सम्यग्दर्शन हो ही। किन्तु इन गुणों की विद्यमानता मे व्यक्ति सम्यग्दर्शन को पाने योग्य भूमिका पर अवश्य आ जाता है। इन गुणों से धार्मिक जीवन शोभ उठता है।

अब श्रावक-धर्म एव श्रावक के गुणों के बारे मे चर्चा की जायेगी।

·o: —

श्रावक धर्म

जिससे हम बहिर्मुखी दृष्टि छोड़कर आत्म-स्वरूप की ओर अग्रसर हों और हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व विकास करे वही धर्म है। धर्म के इस प्रगट रूप को आचार कहते हैं क्योंकि आचरण सुधार ही धर्म है। इसीलिए आचार को प्रथम धर्म कहा गया है (आचार प्रथमो धर्मः) आचार ही जीवन को पवित्र बनाकर विकास करता है। यदि व्यक्ति के पास रूप, सम्पत्ति, सत्ता आदि हों पर आचार शुद्ध न हो तो ये सब निरर्थक हैं।

आचार का संक्षिप्त अर्थ है—मर्यादित जीवन। मानव, मन, वचन, और काया योग से युक्त है। मन चिंतन करता है, वचन चिंतित विषय को वाणी से प्रगट करता है और शरीर उन्हें क्रियात्मक रूप देता है। चूंकि तीनों की स्वच्छन्द प्रवृत्ति से जीवन में सुख शान्ति या प्रेम प्रगट नहीं हो सकता, इनको मर्यादित रखना ही संयम एवं आचार है।

जैन आचार शास्त्र में चारित्र धर्म को दो भागों में विभाजित किया गया है (१) अनगार धर्म (२) सागार धर्म।

अनगार धर्म किसी प्रकार के आगार (अपवाद) से रहित है। जो परिवार-परिजन का स्नेह सम्बंध त्याग कर, सांसारिक बन्धनों से विलग रहकर आध्यात्म साधना द्वारा अन्तर्मुखी जीवन-यापन करते हैं वे अनगार हैं। इनको श्रमण मुनि, साधु एवं निर्ग्रन्थ भी कहते हैं। इनका धर्म महाव्रत धर्म कहलाता है क्योंकि वे तीन करण तीन योग से व्रतों का पालन करते हैं।

तीन करण करना, कराना, अनुमोदन करना ।

तीन योग मन, वचन, काया ।

सागार धर्म (स+आगार) गृहस्थ एवं श्रावक द्वारा पालन किया जाता है। चूंकि वह आगार अर्थात् घर वाला होता है घर अर्थात् स्वजनों, परिजनों के मध्य रहकर धर्म साधना करता है उसे गृहस्थ सागार आगार उपासक देशविरत, श्रावक आदि नामों से जाना जाता है श्रद्धापूर्वक निर्ग्रन्थ प्रवचन श्रवण करने से श्रावक श्रमण की उपासना के कारण श्रमणोपासक एवं व्रतों को एकदेशीय धारण करने से अणुव्रती कहलाता है।

श्रमण एव श्रावक दोनों का लक्ष्य एक है और पथ भी एक है परन्तु साधु पूर्णरूपेण त्याग के पथ मे अग्रसर होता है और श्रावक आंशिक रूप से अनुगमन करता है यही कारण है कि श्रावक के व्रत महाव्रत की अपेक्षा अणुव्रत कहे गए हैं। श्रावक शब्द से निम्नलिखित लक्षण ध्वनित होते हैं

श्रा—श्रद्धावान

व= विवेक

क= क्रियावान

श्रावक श्रद्धापूर्वक आंशिक रूप में सावद्य योगों का त्याग कर क्रियावान रहता हुआ विवेक पूर्वक जीवन यापन करता है और आत्म-साधना मे भी तत्पर रहता है।

श्रावक धर्म का विकास सामान्य आचार की भूमिका के बाद किया जा सकता है। अतः आचार शुद्धि के लिए पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का विधान है। ये कुल बारह व्रत हैं :

पांच अणुव्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह ।

तीन गुणव्रत दिशा परिमाण, उपभोग परिभोग परिमाण एवं अनर्थ-दण्ड विरमण ।

चार शिक्षाव्रत—सामायिक, देशावकासिक, पौषध, एवं अतिथि संविभाग।

अणुव्रत जीवन को व्रत मे युक्त रखते हैं, गुणव्रत उन्हें गुणों को पुष्टि देते हैं जिससे सावद्य योग निवृत्ति का अभ्यास बढ़ता है एवं शिक्षाव्रत से दैनिक जीवन मे धर्मधारा का प्रवाह होता है।

बारह व्रतों की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार हैं :

१. अहिंसा अणुव्रत—राग-द्वेषपूर्ण प्रवृत्ति से हिंसा होती है अतः प्रमाद एव राग-द्वेष की प्रवृत्ति त्याग कर स्थूल हिंसा का त्याग करते हुए शेष सूक्ष्म हिंसा का यथाशक्य त्याग करना अहिंसा अणुव्रत है यह श्रावक के चारित्र धर्म का मूलाधार है क्योंकि अहिंसा ही परमोधर्म है एव इसे अपनाने से अन्य व्रतों का निर्वाह स्वतः होने लगता है।

सभी जीव जीना चाहते हैं कोई मरना नहीं चाहता। सभी को जीवन प्रिय एवं मृत्यु अप्रिय है अतः साधक को किसी भी जीव का वध नहीं करना चाहिए। जब साधक अपने स्व का विस्तार करता है सभी जीवों को आत्मवत् मानता है और किसी को दुःख नहीं देता। जीवों को दु ख देना या उनका शोषण करना भी हिंसा है।

सावधानी पूर्वक अहिंसा व्रत का पालन करते हुए भी प्रमाद या अज्ञानवश दोष लगने की संभावना रहती है। इस प्रकार के दोष अतिचार कहलाते हैं*।

अहिंसाव्रत अथवा स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत के पाँच अतिचार हैं जैसे

* व्रत भंग होने की क्रमिक अवस्थाएँ इस प्रकार है।
(१) अतिक्रम व्रत भंग करने का विचार।
(२) व्यतिक्रम तदर्थ साधन जुटाना।
(३) अतिचार—व्रत को आंशिक रूप से भंग करना।
(४) अनाचार व्रत को पूर्णतः भंग करना।

बन्धन कठोर बन्धन, नौकर आदि को नियत समय से अधिक रोकना, कार्य लेना आदि।

वध किसी प्राणी को प्राणों से रहित करना, निर्दयता से पीटना, सताप पहुँचाना आदि।

छविच्छेद किसी प्राणी के अंगोपांग काटना किसी की आजीविका छीनना, मजदूरी काटना आदि।

अतिचार किसी भी प्राणी को शक्ति से अधिक भार से लादना अतिश्रम लेना या शोषण करना।

अन्नपान निरोध अपने आश्रित जीवों के भोजन, पानी में बाधा डालना, पशुओं को या मनुष्यों को पूरा भोजन न देना, समय पर खाना न देना आदि।

२. सत्याणुव्रत झूठ बोलने से बचना एव यथातथ्य कहना ही सत्य अणुव्रत है। वस्तुत. यह अहिंसा का ही दूसरा नाम है। स्वार्थवश अथवा दूसरों के लिए क्रोध या भय से दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाले असत्य वचन न तो स्वय बोलना और न दूसरों से बुलवाना ही इस व्रत का सार है।

सत्यव्रत को दूषित करनेवाले पांच अतिचार हैं जिनसे गृहस्थ को सदा बचना चाहिए। सदा यह सकल्प रखना चाहिए कि असत्य का परित्याग करें।

(१) मिथ्योपदेश किसी को झूठा उपदेश देकर बुरे मार्ग में प्रवृत्त करना।

(२) रहस्याभ्याख्यान किसी की गुप्त बात प्रकट करना।

(३) कूटलेख क्रिया झूठे दस्तावेज, नकली बही खाते आदि बनाना

(४) न्यासापहार किसी की धरोहर दबाना।

(५) साकार मंत्र भेद झूठी अफवाहें फैलाना, चुगली करना।

३. अचौर्य अणुव्रत इसे अदत्तादान भी कहते हैं जिसमें इसका अर्थ छिपा हुआ है। अदत्त+आदान अर्थात् बिना दिया हुआ दान देना

स्वामी के अनुमति के बिना किसी वस्तु को लेना या उपयोग में लाना वस्तुतः चोरी है अतः इसका त्याग अचौर्य व्रत है। श्रावक को निम्न पांच अतिचारों से बचना चाहिए :

(१) स्तेनाहृत चोरी का माल लेना।

(२) तस्कर प्रयोग चोर को सहायता देना।

(३) विरुद्ध राज्यातिक्रम राज्य विरुद्ध व्यापार आदि कार्य करना।

(४) कूट तुला कूटमान तोलने और नापने में हेर-फेर करना।

(५) तत्प्रतिरूपक व्यवहार असली रूप तुल्य नकली वस्तु का संमिश्रण एवं कम मूल्य की वस्तु को अधिक मूल्यवाली वस्तु के साथ मेल-संमेल कर बेचना।

४. ब्रह्मचर्य व्रत आत्मिक एवं बौद्धिक विकास के लिए संयम तथा सदाचार की आवश्कता होती है। आन्तरिक शक्तियों को संयम से सुरक्षित रखकर हम उन्हें सत्कार्यों एवं प्रवृत्तियों में लगाएं। यह उर्ध्व मुखी क्रिया है। इसके पाँच अतिचार है इत्वरिक परिगृहीता गमन, अपरिगृहीता-गमन, अनंगक्रीड़ा, परविवाह करण एव कामभोग तीव्राभिलाषा। श्रावक जिस प्रकार मर्यादित जीवन स्वदार सन्तोष रूप मे यापन करता है उसी प्रकार श्राविका स्वपति संतोष व्रत धारण करती है।

५. अपरिग्रह व्रत—इसे इच्छा परिमाण व्रत भी कहते हैं। इच्छा आकाश के समान अनन्त है इसीलिए उसे परिमित कर तृष्णा, मोह व आसक्ति को नियन्त्रित किया जाता है। जड़ पदार्थों के अधिक संग्रह से आत्म चेतना दब जाती है और इसी कारण आत्मविकास के स्थान पर हम व्यर्थ के उलझन में भटक कर अटक जाते हैं। संग्रह से हम स्वयं अवनति की ओर बढते हैं और साथ ही समाज के अन्य सदस्यों को उस पदार्थ से वंचित करते हैं। परिग्रह और ममत्व समाज मे अव्यवस्था का कारण बनता है। इच्छाओं को सीमित करने एवं तृष्णा का दमन करने के कारण इस व्रत को इच्छा-परिमाण व्रत भी कहते हैं।

पांच अतिचार १. धन धान्य का मर्यादा से अधिक संग्रह करना २. भूमि भवन आदि मर्यादा से अधिक रखना। ३. स्वर्ण एवं रजत को मर्यादा से अधिक रखना, ४. द्विपद एवं चतुष्पद अर्थात् नौकर एवं पशु आदि को नियम से अधिक रखना। ५. गृह-सामग्री मर्यादा से अधिक रखना।

६. दिशा परिमाण व्रत—गुणव्रतों मे प्रथम इस व्रत मे ऊँची नीची एव तिरछी दिशाओं (पू० प० उ० दक्षिण) की मर्यादा की जाती है। क्षेत्र सीमा कर देने से हिंसा, असत्य, चौर्य अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह का क्षेत्र भी परिमित हो जाता है अणुव्रतों को गुण-पुष्टि करने के कारण ही गुणव्रत कहते हैं।

निश्चित सीमा से आगे व्यापार आदि प्रवृतियां न करने की मर्यादा मे भी पांच अतिचार लग सकते हैं।

१. ऊँची २. नीची ३. तिर्यक दिशा की मर्यादा का उल्लघन करना ४. क्षेत्र सीमा बढाना ५. निर्धारित सीमा की विस्मृति।

७. भोगोपभोग-परिमाण व्रत परिग्रह एवं क्षेत्र सीमा करने के बाद भोग-उपभोगजन्य इच्छाओं पर नियंत्रण करने के लिये इस व्रत का पालन करना चाहिये। इसका पालन करने से अहिंसादि मूलव्रतों का निर्दोषरीति से पालन हो सकता है।

भोग=एक ही बार काम मे आवे ऐसी वस्तुओं का उपयोग जैसे अन्नपान, ताम्बूल-विलेपन, फूल आदि का उपयोग।

उपभोग=जो बार-बार उपयोग मे आवें ऐसी वस्तुओं जैसे घर, गहने, पलंग, कुर्सी, वाहन आदि का उपयोग करना।

सातवें व्रत मे भोग एव उपभोग की वस्तुओं का प्रमाणकर यथाशक्ति त्याग कर देना चाहिये। अन्न-पान मे, जहाँ तक हो सके श्रावकों को सचित्त खाने का त्याग करना चाहिये। जैसे कच्चा पानी, कच्चा साग, ताजे फल-फूल आदि। क्योंकि इनमे जीव का नाश सीधा अपने मुंह से होता है। तथा अचित की अपेक्षा ये अधिक विकारी हैं। उबाला हुआ

पानी, पके हुये साग, काट कर बीज निकाल दिये जाने के दो घड़ी बाद के फल या फलों के रस आदि अचित हैं। अतः श्रावक को यथाशक्ति सचित का अवश्य त्याग करना चाहिये। इस व्रत मे बावीस अभक्ष्य, बत्तीस अनंतकाय तथा पन्द्रह कर्मादान का त्याग करना है।

बावीस अभक्ष्य

अभक्ष्य पदार्थों को खाने मे बहुत से जीवों का नाश होता है। मन विकारी बनता है। अतः श्रावकों को इनका त्याग करना चाहिये। (१) रात्रि भोजन (२-५) मांस, मदिरा, मधु (शहद) और मक्खन। इन चारो मे उसी वर्ण के असख्य जीव पैदा होते हैं। अडे, कोड-लिवर ओयल, लिवर के इजेक्शन आदि भी मांस मे आते है। शहद मे फसकर असंख्य जीव मरते हैं। शहद प्राप्त करने में कई मक्खियों का विनाश होता है। मक्खन मे सूक्ष्म जीव उत्पन्न हो जाते हैं। (६-१०) बड़ पीपल, पिलखण, कठवर तथा गूलर इनके फल (इनमें बहुत जीव होते हैं। (११-१५) बर्फ, ओले, अफीम आदि विष, सब तरह की मिट्टी, और बैगन ये अभक्ष्य है।

(१६) बहुबीज फल —जिसमे बहुत ज्यादा बीज हो जैसे खसखस, अजीर आदि। (१७) तुच्छफल —जिसमे खाना थोड़ा हो फेंकना ज्यादा हो जैसे बेर, जामुन, सीताफल आदि। (१८) अज्ञातफल विनाजानाफल (१९) अचार-मुरब्बे आदि (२०) चलितरस —जिसके रग, रस, गध एव स्पर्श बिगड़ गये हों। जैसे बासी अन्न-शाक-सब्जी दो रात बाद का दही-छांछ। सर्दी मे एक मास, गर्मी मे १५ दिन एवं चातुर्मास मे सात दिन बाद की मिठाई, आर्द्रा के बाद आम, चातुर्मास मे मेवा, पत्ती का शाक आदि अभक्ष्य है। (२१) द्विदल जिस धान्य की दो-फाड़ होती हो और जिनमें तेल न निकले उसकी बनी हुई चीज को कच्चे दूध दही या छाछ के साथ खाना। इसमे असंख्य त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं।

(२२) बत्तीस प्रकार के अनंतकाय अभक्ष्य है। अनंतकाय जहां एक शरीर में एक साथ अनंत जीव रहते हैं, वे अनंतकाय कहलाते हैं। अनंतजीवों के पिण्डरूप-अनंतकाय को खाना महापाप है। (१) भूमि के अन्दर जितने कंद उत्पन्न होते हैं सब अनंतकाय है। (२) सूरणकंद (३)वज्रकंद (४) हरी हल्दी (५) अद्रक (६) हरा कचूर (७) सौंफ की जड़ विरालो कंद (८) शतावरी (९) कुआरपाठा (१०) थोहर कंद (११) गिलोय (१२) लहसुन (१३) बांस का करेला (१४) गाजर (१५) लापा जिसे जलाकर साजी बनाई जाती है। (१६) पद्मिनी कंद (१७) गिरिकर्णी (कच्छ देश में प्रसिद्ध है) (१८) किसलय पत्र, कोमल पत्ते, अंकुर आदि। सभी वनस्पति के अंकुर पत्ते उगते समय अनंतकाय होते है उसके बाद कुछ प्रत्येक बन जाते हैं, कोई अनंतकाय ही रह जाते हैं। (१९) खरसूयाकंद कसेरु (२०) थेग-कंद और थेग भाजी (२१) हरा मोथा (२२) लवण वृक्ष की छाल (२३) खिलोड़ी (२४) अमृतवेल (२५) मूली (२६) भूमिफोड़ (छत्राकार-बिल्ली का टोप जो बरसात में उगता है।) (२७) कोमल बथुवा (२८) करुहार (२९) शुकरवेल-जंगली बड़ी बेल (३०) पालक की भाजी (३१) कोमल इमली जहाँ तक उसमें बीज नहीं पड़ा हो वहाँ तक अनंतकाय (३२) आलू, रतालू, पिंडालू, प्याज आदि।

पन्द्रह कर्मादान—अपेक्षाकृत जिसमे अधिक हिंसा व अधर्म होने की संभावना रहे, ऐसे व्यापार कर्मादान कहलाते हैं।

(१) अंगार-कर्म लुहार, सुनार, कुम्हार, भड़भूजा, होटल, लॉज आदि के धंधे।

(२) वन-कर्म जंगलों को कटवाना, बाग-बगीचे लगवाना आदि।

(३) शकटकर्म गाड़ी, मोटर, बसें, कारें आदि बनवाना।

(४) भाटक-कर्म—गाड़ी मोटर आदि को किराये पर देने का धंधा।

(५) स्फोटक कर्म जमीन खान सुरंग आदि खुदवाने का धन्धा।

(६) दंतवाणिज्य हाथी आदि को मारकर उनके दांत, केश आदि को बेचने का धन्धा करना।

(७) लक्खवाणिज्य लाख, कोयला, गंधक शराब आदि ईंधन का व्यापार करना।

(८) रसवाणिज्य घी, तेल, शहद, आदि रसयुक्त चीजों का व्यापार करना।

(९) केशवाणिज्य मनुष्य पशु आदि का व्यापार करना।

(१०) विषवाणिज्य अफीम, सोमल, तेजाब आदि का धन्धा।

(११) यन्त्रपीलन कर्म तिल, सरसों, इक्षु आदि को पीलना, अनाज, बीज, कपास आदि को कूटने, पीसने लोढणे का धन्धा करना।

(१२) निर्लांछनकर्म जीवों के शरीर को काटने-बींधने आदि का धन्धा करना। जैसे बैलों को घोड़ों को नपुंशक बनाना।

(१३) दवदान जंगल आदि जलाना। लाखों जीव मर जाते हैं।

(१४) शोषणकर्म कुआँ, तालाब, बावड़ी इत्यादि के पानी को सुखाने इससे लाखों जलचर जीव मर जाते हैं।

(१५) असतीपोषण क्रीडार्थ कुत्ते, बिल्ली आदि हिंसक जीवों को पालना दास-दासी आदि का पोषणकर उनके दुराचार विक्रय आदि से आजीविका चलाना।

अनुकपा कर किसी जीव को पालना निषिद्ध नहीं है।

पांच अतिचार :

(१) सचित्तआहार प्रथम तो श्रावक सचित्तवस्तु का सर्वथा त्यागी होना चाहिये। यदि सर्वथा त्याग न कर सके तो प्रमाण अवश्य रखें। प्रमाण करने पर यदि भूल से सचित्त खा ले तो अतिचार लगता है।

सचित्त संबद्ध आहार जिसको सचित्त वस्तु खाने का नियम हो, और वह सचित्त पदार्थों से युक्त-बेर-आम आदि का फल आहार करे।

(३) अपक्व औषधि भक्षण

(४) दुष्पक्व औषधि भक्षण जो कुछ कच्ची हो और कुछ पक्की हो

ऐसी वस्तु खाना जैसे भुट्टे वगैरह सेक कर खाना। उसमें कुछ दाने कुछ कच्चे पक्के होते हैं।

(५) तुच्छ औषधि-भक्षण जिसमे खाना थोड़ा हो और फेंकना ज्यादा हो ऐसी चीज खाना-जैसे सीताफल, चने का फूल आदि।

अनर्थदण्ड विरमण-व्रत

निरर्थक या अनावश्यक ही जिससे आत्मा दण्डित हो अर्थात् हिंसा आदि सावद्य व्यापार की क्रिया लगे उसे अनर्थदण्ड कहा जाता है। इनसे बचना ही अनर्थदण्ड विरमण व्रत है। इस गुण व्रत से प्रधानतया अहिंसा एवं अपरिग्रह का पोषण होता है।

अनर्थदण्ड चार प्रकार के हैं। १. अपध्यान अशुभ चिन्तन मनन करना प्रिय वस्तु के वियोग एवं अनिष्ट वस्तु के संयोग होने पर शोक करना। २. प्रमाद युक्त आचरण—प्रमाद पतन और अविवेक की ओर ले जाता है अतः इससे सदा बचना चाहिये। प्रमाद के कारण हैं, मद, विषय, कषाय, निद्रा, और विकथा ३. हिंसादान हिंसा में सहायक अस्त्र शस्त्र या अन्य साधन किसी को देना। ४. पापोपदेश-पाप कर्म या दुर्व्यसन की ओर प्रवृत्त करने वाले उपदेश देना।

अतिचार

१. कन्दर्प विकारवर्द्धक वचन बोलना या अधिक हँसी-मजाक करना।

२. कौत्कुच्य विकारवर्धक चेष्टाएँ करना। (भांड आदि की तरह)

३. मौखर्य असम्बद्ध एव अनावश्यक वचन बोलना।

४. संयुक्ताधिकरण जिन उपकरणों के संयोग से हिंसा की संभावना बढे। बन्दूक के साथ गोली, धनुष के साथ तीर आदि का संयोग।

५. उपभोग परिभोगातिरिक्त आवश्यकता से अधिक उपभोग एवं परिभोग की सामग्री का संग्रह करना।

९. सामायिक व्रत व्रतों को बलवान बनाने का साधना सामायिक है। मन की चचल प्रवृत्तियोको शान्त एवं स्थिर करके समभाव प्राप्त करना सामायिक है। इससे आत्मा संयम, नियम व तप मे तल्लीन हो जाती है। अतिचार १-३ मन, वचन, काया का चांचल्य ४ सामायिक को समय मर्यादा भूल जाना ५. सामायिक का सम्यक पालन न करना।

१०. देशावकाशिक व्रत दिशा परिमाण एवं उपभोग परिभोग की जीवन पर्यन्त मर्यादा को प्रतिदिन संयमित करना इस व्रत का लक्ष्य है। इससे जीवन मे पवित्रता आती है और संयम-साधना का अभ्यास बढ़ता है।

अतिचार १.सीमा से बाहर की वस्तु मगवाना २. किसी वस्तु को बाहर भेजना। ३. सीमा के बाहर क्रिया का सकेत करना ४. सीमा से बाहर वस्तु सकेत से कार्य करना ५, मर्यादा के बाहरी देश मे वस्तुएँ भेजकर कार्य (व्यापार) करना।

पोषध व्रत आत्म चिन्तन एव आत्मनिरीक्षण कर आत्म-भाव मे रमण करना धर्म का पोषण पुष्टि-पोषध व्रत है इस व्रत मे उपवास करके सांसारिक वृत्तियों का त्याग किया जाता है।

अतिचार १. पोषध स्थान का सम्यक् निरीक्षण न करना २. शय्या आदि अवलोकन न करना ३. मल मूत्र विसर्जन के स्थान का निरीक्षण न करना ४. अयोग्य स्थान पर मल मूत्र का त्यागना तथा ५. पौषधोपवास व्रत की मर्यादा मे कमी रखना।

१२. अतिथि सविभागव्रत 'अतिथि-संविभाग' शब्द के दो खण्ड है। अतिथि और सविभाग। 'अतिथि' अर्थात् तिथि, पर्व आदि सारे लौकिक, व्यवहारों का त्याग कर भोजन के समय जो आहारादि के लिये आवे वह 'अतिथि' कहलाता है। श्रावक तथा साधु-साध्वी हो अतिथि होते हैं। उन अतिथियों को सविभाग अर्थात् आधाकर्मादि बयालीस दोषों से रहित अन्नादि का दान करना। अर्थात् न्यायोपार्जित, प्रासुक कल्पनीय, अन्न-पान एवं वस्त्रादि का देश, काल के अनुरूप श्रद्धा, सत्कार, सम्मान एवं

बहुमान पूर्वक अपनी आत्मा के हित के लिये साधु-साध्वी को दान देने का नियम लेना या दान देना अतिथि संविभाग व्रत है। चालू रीति के अनुसार यह व्रत उपवास सहित दिन-रात का पौषध कर पारणे के दिन साधु-साध्वी को अन्न पानी दान देकर स्वयं एकाशन करके किया जाता है। यदि साधु-साध्वी का योग न हो तो श्रावक-श्राविका का अतिथि-सविभाग करके पारणा करना चाहिये। पौषध के पारणे के सिवाय भी अन्य दिनों मे भी साधु अथवा श्रावक को अतिथि संविभाग कर सकते हैं। जैसे पुनिया श्रावक प्रतिदिन अतिथि सविभाग करता था। अतिचार-१—अचित वस्तु में (न देने की इच्छा से अथवा भूलकर) सचित वस्तु मिला देना, रख देना। २ अचित को सचित से ढक देना। ३ न देने की इच्छा से अपनी वस्तु को पराई कहे। देने की इच्छा से पराई वस्तु को अपनी कहे। चीज होते हुए भी बहाना करके टाल दे इत्यादि। ४—अहंकार या ईर्ष्यापूर्वक दान देना। ५ भिक्षा का समय बीत जाने पर साधु-साध्वी को गोचरी के लिये निमन्त्रण देना।

पूर्वोक्त सक्षिप्त विवेचन से ज्ञात होता है कि व्रत बन्धन नही है, वरन् जीवन के विकास एव शुद्धिकरण के अनुपम साधन है।

श्रावक की दिनचर्या रात्रिचर्या

श्रावक अर्थात् जिनेश्वर भगवान का उपासक, जिनेश्वर का अनुयायी। उसके जीवन में साधारण व्यक्तियों की तरह खाना-पीना ऐश-आराम करना मात्र ही नहीं हो सकता। किन्तु उसका जीवन धर्ममय व्रत नियमों से बंधा हुआ एवं शील सदाचार से महकता हुआ होना चाहिए। गृहस्थ जीवन के योग्य आवश्यक क्रियाओं से परिपूर्ण होना चाहिये।

श्रावक, रात डेढ़ घण्टा बाकी रहे तब बिस्तर छोड़े उठते ही नमस्कार मन्त्र का जाप करें। फिर उसके बाद आत्मनिरीक्षण करते हुये विचार करें कि मैं कौन हूं? कहाँ से आया हूं? क्या कर रहा हूं? कहाँ जाऊँगा? मैंने यहाँ आकर क्या पाया? और क्या खोया? इत्यादि। ऐसा सोचने से प्रेरणा मिलती है।

उसके बाद सामायिक प्रतिक्रमण इत्यादि करें। यदि सामायिकादि न कर सकें तो पावन तीर्थस्थानों शत्रुंजय आदि तीर्थ का स्मरण कर भाव वन्दन करें। जाप करें। महान् सन्त सतियों का स्मरण करें, फिर कम से कम नवकारसी का पच्चक्खाण करें। फिर मन्दिर जाकर प्रभु का दर्शन करें। धूप-दीप वासक्षेप आदि पूजा करें चैत्यवन्दन करने के पश्चात् गुरु महाराज हों तो उनके पास जाकर वंदन करें उनकी जो आवश्यकता हो उसका लाभ देने की प्रार्थना करें उनसे यथाशक्ति पच्चक्खाण लें। घर आकर पच्चक्खाण आ गया हो तो पारें। बाद में व्याख्यान श्रवण करें।

इसके बाद परिमित जल से स्नान कर भगवान की द्रव्यपूजा करें। घर आकर नियमपूर्वक भोजन करें। बाद में ईमानदारी एवं प्रामाणिकता-

पूर्वक जीवन-निर्वाह के लिए अर्थ-चिन्ता करें। सायकाल सूर्यास्त से पहिले ही खाना-पीना निपटा लें। जिन मन्दिर मे आरती इत्यादि करने जावें गु० महाराज के पास बैठकर तत्वचर्चा करें। कुटम्बियो के साथ धर्म चर्चा, पूर्व पुरुषों के चरित्र का स्मरण करें। तत्पश्चात विषय-विकार उत्तेजित न हों ऐसा चिन्तन करें।

श्रावक के तीन मनोरथ

श्रावक रात्रि को निद्रा लेने से पूर्व विषयों को जीतने के लिये विचार करें कि

१ जिनधर्म के साथ दासपन मिले तो भी अच्छा है किन्तु धर्म से रहित चक्रवर्तीपन भी नहीं चाहिये।

२ कब मैं संवेगी, वैराग्यवान गीतार्थ-गु० के चरणों मे ससार का त्यागकर दीक्षा ग्रहण करूंगा?

३ मेरे अन्दर ऐसी शक्ति कब आयेगी कि "मैं उग्र तपश्चर्या करता हुआ, श्मशान आदि मे जाकर विधि पूर्वक कायोत्सर्ग करूंगा? इस प्रकार चिन्तन करते-करते निद्रा लें।

नमस्कार मन्त्र

भारतीय सस्कृति की विविध धाराओं मे नमस्कार का विशेष महत्व है। गुरुजनो, गुणी व्यक्तियों एव महापुरुषों के प्रति विनय भाव आत्मोन्नति के लिए बहुत ही आवश्यक है। नित्य स्मरणीय उनका नाम मंगल रूप है। उनका दर्शन वदन-पूजा भक्ति अपने मे गुणों का विकास करने का सबल माध्यम व साधन है। जैनधर्म मे पच परमेष्ठी के नमन रूप नवकार मत्र नमस्कार सूत्र का सर्वोच्च स्थान--है, उसी नमस्कार मंत्र का भावार्थ बतलाया जाता है।

पंच परमेष्ठि नमस्कार

णमो अरिहंताणं ।*
णमो सिद्धाणं ।
णमो आयरियाण ।
णमो उवज्झायाणं ।
णमो लोए सव्वसाहूण ।
एसो पंच णमुक्कारो, सव्व, पाव प्पणासणो ।
मंगलाण च सव्वेसिं, पढम हवइ मंगलम ॥

अर्थात् अरिहन्तों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, आचार्यों को नमस्कार, उपाध्यायों को नमस्कार, लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार । ये पाँच नमस्कार सर्वपाप विनाशक हैं और सभी मंगलों में प्रथम मंगल है ।

पाँच पदों को नमन करने के कारण नमस्कार मंत्र को पंच परमेष्ठी मंत्र भी कहते हैं । इसमें किसी व्यक्ति विशेष को वन्दन न कर गुणों को नमन किया गया है । प्रथम एवं द्वितीय पद अरिहंत एवं सिद्ध के हैं, जो देव हैं तथा तृतीय से पंचम पद आचार्य, उपाध्याय एवं साधु के हैं, जो गुरु हैं । सर्व मंगलों में प्रथम मंगल बताकर गुणों को नमन से तात्पर्य यही है कि साधक इन महापुरुषों का आदर्श जीवन में उतार कर आत्मोत्थान की ओर बढे ।

१. अरिहंतों को नमस्कार

आत्मा को पतन की ओर ले जाने वाले शत्रुओं (मोह, लोभ, क्रोधादि) को नाश करने अर्थात् जीत लेने से 'अरिहंत' संज्ञा प्राप्त होती है । मोह को प्रधान शत्रु कहा गया है क्योंकि शेष कर्म उतने घातक नहीं होते । आत्मानुभूति एवं आत्मगुणों के आविर्भाव को रोकने में यही समर्थ कारण है ।

* णमो अरहंताणं इसका मूल व प्राचीन पाठ है ।

कर्मरूपी शत्रुओं के नाश करने से अरिहंत को अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्यरूप अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति होती है। अघातिया कर्मों के लेप से युक्त अरिहन्तों को सर्वथा कर्म रहित सिद्ध परमेष्ठी से पूर्व नमस्कार का कारण यह है कि ये हमें बोध देकर आत्म विकास के चरम बिन्दु पर स्थित सिद्धों के प्रति श्रद्धा-अभिमुख करते हैं।

जैन साधना मे प्रत्येक आत्मा को विकास की पराकाष्ठा तक बढ़ने की स्वतंत्रता है। अन्तमुंखी दृष्टि होने पर ही आत्म स्वरूप मे रमण कर आत्मा गुणस्थान की सीढ़ियाँ चढ़कर विकास की ओर बढ़ती है। अरिहन्त पद की प्राप्ति कोई भी आत्मा संयम ध्यान तपस्यादि द्वारा घाति कर्म के क्षय से कर सकती है। अरिहन्त अपने दिव्य ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थों की सर्व अवस्थाओं को प्रत्यक्ष रूप से जानते हैं और दिव्य दर्शन द्वारा समस्त पदार्थों का सामान्य अवलोकन करते हैं। क्षुधा, तृषा, भय, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मरण, पसीना, खेद, अभिमान रति, आश्चर्य, जन्म, नींद और शोक अठारह दोषों से रहित होने के कारण अरिहन्त परम शान्त होते हैं।

अरिहन्त के दो भेद हैं सामान्य अरिहन्त और तीर्थंकर अरिहन्त। अतिशय और धर्म तीर्थ का प्रवर्तक तीर्थंकर अरिहन्त कहलाता है। अन्य विशेषताएँ दोनों अरिहन्तों मे समान होती है।

२. सिद्धों को नमस्कार

जिन्होंने अष्ट कर्म मल से आत्मा को मुक्त कर दिया हो और सम्पूर्ण पदार्थों की समस्त पर्यायों को जान लिया है वे सिद्ध हैं। वे सुख-सागर में निमग्न हैं और दुःखों से रहित हैं। ऐसे सिद्धों को दूसरे पद में नमस्कार किया गया है। सिद्ध में आठ गुण होते हैं अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अटल अवगाहना, अमूर्तिक, अगुरुलघु एवं अनन्तवीर्य।

सिद्ध के पन्द्रह भेद हैं (१) तीर्थसिद्धा, (२) अतीर्थ सिद्धा (३) तीर्थंकर सिद्धा (४) अतीर्थंकर सिद्धा (५) स्वय बुद्धसिद्धा (६) प्रत्येक बुद्धसिद्धा (७) बुद्धबोधित सिद्धा (८) स्त्रीलिंग सिद्धा (९) पुरुष लिंग सिद्धा (१०) नपुंसक लिंग सिद्धा (११) स्वलिंग सिद्धा (१२) अन्य लिंग सिद्धा (१३) गृहस्थ लिंग सिद्धा (१४) एक सिद्धा एवं (१५) अनेक सिद्धा।

आत्मा के विकास की पराकाष्ठा सिद्ध पद मे है। आत्मा का पूर्ण एवं वास्तविक स्वरूप इस सिद्ध पर्याय मे ही प्रकट होता है।

३. आचार्यों को नमस्कार

तृतीय पद आचार्य का है जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप एवं वीर्य इन पांच आचारो का स्वयं पालन करते है और दूसरे साधुओं आदि से आचरण कराते हैं। ज्ञान एव आचरण जहाँ एक हो जाते हैं उसे हम आचार्य कहते हैं। आचार्य मे ३६ गुण होते हैं—५ महाव्रत पालन, ५ आचार पालन, ५ इन्द्रिय दमन ९ वाड सहित शुद्ध ब्रह्मचर्य पालन ४ कषाय निवृत्ति, समिति एव ३ गुप्ति आराधन (५+५+५+९+४+५+३=३६)।

आचार्य की आठ सम्पदा -१. आचार २. श्रुत ३. शरीर ४. वचन ५. वाचना ६. मति ७. प्रयोगमति ८. संग्रह परिज्ञा से युक्त होते हैं। गुरुपद मे सर्वोच्च पदासीन आचार्य परमेष्ठी सौम्य, श्रेष्ठ निर्लिप्त एव निष्कम्प होते हैं।

४. उपाध्यायों को नमस्कार

ज्ञान एव आचरण के साथ जो उपदेश भी दे। ग्यारह अग, बारह उपांग चरणसत्तरी एव करण सत्तरी —इन पच्चीस गुणों से युक्त ही उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं। ये स्वय अध्ययन रत रहते है और इनके सानिध्य मे मुनिजन अध्ययन करते हैं। आचार्य सर्वसाधारण को अपने उपदेश से धर्म मार्ग मे लगाते हैं तो उपाध्याय जिज्ञासुओं एव ज्ञान पिपासु को अध्ययन कराते हैं।

(११ अंग आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, विवाह प्रज्ञप्ति (भगवती) ज्ञाताधर्मकथांग, उपासकदशांग, अंतकृतदशांग अनुत्तरोपवाई, प्रश्नव्याकरण एवं विपाकसूत्र)

(१२ उपांग उववाई, राजप्रश्नीय, जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, निरयावलिका, कप्पवडासिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका एवं वह्निदशांग)।

५. साधुओं को नमस्कार

पांचवे पद मे लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार किया गया है। जो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र एवं तप द्वारा मोक्षमार्ग की साधना में लीन हैं तथा सर्व प्राणियों के प्रति समता रखते हैं साधु पद पर हैं। ये सत्ताईस गुण युक्त होते हैं पच महाव्रत पालन, पंचेन्द्रिय निग्रह, चार कषाय निवृत्ति, भाव-करण-योग सत्य, क्षमा-वैराग्यवन्त, मन वचन काय समता, ज्ञान-दर्शन-चारित्र सम्पन्न, वेदनीय एवं मारणांतिक समाधि।

(५+५+४+३+२+३+३+२=२७)

साधु पदासीन गुरु आचार पालन कर कायक्लेश एवं परीषह द्वारा ममता से रहित होते हैं और सदा मोक्ष मार्ग की साधना-आराधना में लगे रहते हैं। सरल वृत्ति एव आचार पालन करके जिसने भी आत्म ज्योति जगाई है, वन्दनीय है। साधु अपनी आत्म साधना मे लगे रहते हैं और पाँच महाव्रतों का सम्यक प्रकार से पालन करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देव एव गुरु नमन का मत्र पचपरमेष्ठी कहलाता है। नमस्कारोपरान्त जिस प्रकार शुभ कार्य प्रारम्भ करते हैं उसी प्रकार विषमता से समता को ओर बढ़कर हम अपूर्णता से पूर्णत्व एवं सिद्धत्व की ओर बढ़ते हैं।

इन पच-परमेष्ठियों के साथ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एव तपरूप धर्म को मिलाने से 'नवपद' बनते हैं। इस प्रकार 'नवपद'

मे देव (अरिहंत-सिद्ध) गुरु (आचार्य उपाध्याय एवं साधु) धर्म (ज्ञानादि) तीनों का समावेश हो जाता है।

ये नौ ही पद ध्येयरूप है। इनका ध्यान करने से कर्मों की निर्जरा होती है। इसीलिए इनकी विशेष आराधना साल मे दो वार की जाती है। १ आसोज मे (आसोज सुद सातम से पूर्णिमा तक। २ चैत्र मे (चैत्र सुद सातम से सुद पूर्णिमा तक। इन नौ दिनों मे एक-एक दिन मे एक....एक पद की आराधना की जाती है। आयंबिल की तपश्चर्यापूर्वक, नौ ही पदों का जाप किया जाता है। यह आराधना 'ओलीजी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों का सुमेल होना चाहिये।

ध्याता नवपद का आराधक, ध्यानकर्ता।

ध्येय नवपद और उनके गुण।

ध्यान नवपद और उनके गुणों का ध्यान करना चाहिये।

'यादृशी भावना यस्य, सिद्धिर्भवति तादृशी' जिसकी जैसी भावना होती है, उसको वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है। यदि नवपद का ध्यान करते रहें तो आत्मा स्वय नवपदमय बन जाता है। अतः नवपद की आराधना सतत करनी चाहिये।

चौदह नियम

गृहस्थ-जीवन प्रवृत्ति सकुल है। किन्तु जगत् की सभी वस्तुयें उसके उपयोग मे नहीं आ सकती। अत: उन वस्तुओं के उपयोग का अनावश्यक पाप बंध न हो, इसके लिये चौदह नियम कर लेना चाहिये। इसमें आवश्यक चीजें खुली भी रख सकते हैं और अनावश्यक के त्याग का लाभ भी हो जाता है। खाते-पीते, त्याग करने का चौदह नियम सुन्दर उपाय है।

सचित्त-दव्व-विगई-वाणह-तंबोल वत्थ कुसुमेसु ॥
वाहण-शयन-विलेवण-बंभ दिसि-न्हाण-भत्तेसु ।

१. सचित्त सजीव, हरे साग, फल-फूल, नमक, हरा दातुन वगैरह इतनी संख्या से ज्यादा उपयोग नहीं करूंगा ऐसा नियम करना।

२. द्रव्य भिन्न भिन्न नाम व स्वाद वाली वस्तुयें इतनी संख्या से अधिक काम में नहीं लूंगा। ऐसा नियम करना।

३. विगई दूध, दही, घी, तेल, गुड़-शक्कर तथा घी तेल में तली हुई वस्तु ये छः विगय हैं। इनका यथाशक्ति त्याग करना।

४. वाणह- जूता, मोजा आदि पाँव मे पहिनने की चीजों की मर्यादा रखें।

५. तंबोल पान, सुपारी, इलायची आदि का प्रमाण करें।

६. वत्थ पहिनने ओढने के वस्त्र एवं आभूषण आदि की मर्यादा करें।

७. कुसुम फूल, इत्र, आदि सुगंधित वस्तुओं का प्रमाण करना।

८. वाहन हाथी, घोड़ा, बैलगाड़ी, मोटर जहाज आदि सवारियों की मर्यादा करें।

९. शयन शय्या, बिछौना, पलंग आदि का प्रमाण करना।

१०. विलेवण साबुन, वेसलिन, स्नो, पाउडर, तेल इत्यादि का प्रमाण करें।

११. ब्रह्मचर्य परस्त्री का सर्वथा त्याग, दिन में ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन, रात्रि में मर्यादा।

१२. दिशा आज इतने मील से अधिक इस दिशा में नहीं जाऊँगा। ऐसा नियम करना।

१३. स्नान स्नान करने और हाथ, पैर धोने का प्रमाण करे।

१४. भात-पानी अन्न-पानी आदि चारों आहारों का तोल रखना।

इन चौदह नियमों के अतिरिक्त अन्य भी कुछ नियम हैं, जो उपयोगी होने से उनका भी पालन करना चाहिये।

१. पृथ्वीकाय मिट्टी, नमक, आदि जो खाने वा उपभोग में आवे उसका प्रमाण रखना।

२. अपूकाय जो पानी स्नान करने, कपड़े धोने व पीने के काम में आवे उसका तोल रखना।

३. तेऊकाय चूल्हा, भट्ठी, चिराग, अंगीठी आदि का प्रमाण करना।

४. वायुकाय झूला, पंखा आदि की मर्यादा करना।

५. वनस्पतिकाय हरी वनस्पति आदि खाने का प्रमाण करना।

६. त्रसकाय निरपराधी चलते-फिरते जीवों को न मारने का नियम करना, अनजान में मर जाय उसका 'मिच्छामि दुक्कड' देना।

तीन कर्म (१) असिकर्म—तलवार, बन्दूक, चाकू आदि शस्त्रों की संख्या रखकर नियम करना। (२) मसि कर्म—कागज, कलम दवात आदि का प्रमाण करना, (३) कृषिकर्म—खेती, बगीचा आदि का प्रमाण करना।

इन नियमों का पालन करने से जीव अनावश्यक पापों से बच सकता है। बिना किसी तकलीफ के पापों से बचने का यह सरल उपाय है। इन नियमों को चितारने वाले प्रात.काल सूर्योदय के समय और सायकाल सूर्यास्त के समय शुद्ध भूमि पर बैठकर प्रथम तीन नवकार गिनकर चौदह नियमों का चिंतवन करें।

श्रावक पर्वकृत्य

१. अष्टमी चतुर्दशी आदि तथा कल्याणक तिथियों में उपवास पौषध आदि करे। पौषध उपवास न कर सके तो आयबिल एकाशन आदि यथाशक्ति करे। प्रतिक्रमण, सामायिक, चैत्यपरिपाटी, सुपात्रदान, देवपूजा गुरुभक्ति, इत्यादि अवश्य करें। ब्रह्मचर्य का पालन करें। आरम-समारंभ का त्याग करें।

२. चातुर्मासिक कृत्य

चातुर्मास में जीवोत्पत्ति अधिक होती है इसलिये अधिक-आरम-समारम का त्याग करें। जिनमे अधिक जीवोत्पत्ति होती हो, ऐसी वस्तुएं न खायें। गमन-आगमन, मुसाफिरी न करें। अधिकाधिक उपवास छट्ठ,

अट्ठम अट्ठाई-मासक्षमण इत्यादि की तपश्चर्या करें। अभिग्रह धारण करें। दिन मे तीनवार जल छानें। यथाशक्ति, उपधानतप, प्रतिमावहन करें। चूल्हा, पानी रखने का स्थान, कखल, चक्की, बिलोने के, सयन के, स्नान करने के, भोजन के स्थान पर, तथा मन्दिर और पोषधशाला में इन दस स्थानों पर चंदरवा बांधना।

३ वार्षिक-कृत्य :

१. संघपूजा—संपत्ति के अनुसार साधु-साध्वी को वस्त्र पात्र आदि देकर और श्रावक-श्राविका को आभूषण आदि देकर भक्ति सन्मान करे।

२. सार्धमिक वात्सल्य स्वधर्मियों को अपने घर लाकर विनयपूर्वक विशिष्ट भोजनादि करवाना। दुखी श्रावक-श्राविका का दुख दर्द यथाशक्ति दूर कर उनको धर्म करने की सुविधा देना। धर्म से विचलित होते को धर्म मे स्थिर करना। अपराधी को उदार दिल से क्षमा कर, सन्मार्ग मे जोड़ना।

३. यात्रात्रिक तीन तरह से यात्रा करना।

(१) अष्टाह्निका यात्रा—अट्ठाई के दिनों में, अष्टाह्निका महोत्सव, चैत्य-परिपाटी, प्रभु की अंग रचना, भक्ति, उचित दान आदि पूर्वक जिन भक्ति करना।

(२) रथयात्रा भगवान को रथ मे विराजमान कर ठाठ से वरघोड़ा निकालना।

(३) तीर्थयात्रा शत्रुंजयादि तीर्थों की यात्रा करना। शक्ति हो तो संघ निकालें।

(४) स्नात्र-महोत्सव प्रतिदिन न हो सके तो पर्व दिन मे, महीने में वर्ष मे बड़े ठाठ से स्नात्र महोत्सव करें।

(५) देवद्रव्यवृद्धि घी बोलकर प्रभु को आभूषण आदि चढाकर, भंडार मे द्रव्यार्पण करके देव द्रव्य की वृद्धि करना।

(६) महापूजा एकवार भी प्रभु की विशिष्ट भक्ति पूजा करवाना।

(७) धर्म जागरिका पर्वदिनों में गुरु के दीक्षा, स्वर्गवास आदि के दिनों मे रात्रि को गीत गानादि द्वारा रात्रि जागरण करें।

(८) श्रुतपूजा- शास्त्र लिखवाना, ज्ञान-पंचमी के दिन पुस्तकों की पूजा, ज्ञान भक्ति, जीर्णोद्धार आदि कार्य करना।

(९) उद्यापन नवपदजी, बीसस्थानक आदि तप की पूर्णाहूति होजाय तप महोत्सव पूर्वक उद्यापन करना।

(१०) तीर्थ प्रभावना—गुरु के प्रवेश उत्सव द्वारा दीक्षा महोत्सव द्वारा या अन्य शासन सबन्धी कार्यों द्वारा शासन की प्रभावना करना।

(११) शुद्धि आलोचना—गुरु के समक्ष पापों की आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करे।

जन्म कर्त्तव्य :

गृहस्थ को अपने जीवन मे निम्न कर्त्तव्यों को एकबार अवश्य आचरण करना चाहिये। (१) जिन मन्दिर बनाना। (२) जिन प्रतिमा को स्थापन करना। (३) पुत्र-पुत्री को महोत्सव पूर्वक दीक्षा दिलवाना। (४) साधु-साध्वी के आचार्य उपाध्याय-गणिपद तथा प्रवर्त्तिनीपद का महोत्सव करना। (६) पौषधशाला का निर्माण करना।

ग्यारह-प्रतिमा :

श्रावक को अपने जीवन मे प्रतिमा का वहन अवश्य करना चाहिये।
प्रतिमा = अभिग्रह विशेष।

१. दर्शन प्रतिमा एक महिने तक बिना किसी अपवाद के सम्यक्त्व का पालन करना।

२. व्रतप्रतिमा पूर्व प्रतिमा सहित दो मास तक अखंडितरूप से पांच अणुव्रतों का पालन करना।

२. सामायिक प्रतिमा पूर्वोक्त दोनों प्रतिमा सहित तीन मास तक अप्रमत्त भाव से दोनों समय सामायिक करना।

४. पोषध प्रतिमा। पूर्वोक्त तीनों प्रतिमाओं का पालन करते हुए, चार मास तक चार पर्वों मे (दो अष्टमी, दो चतुर्दशी) पौषध करना।

५. कायोत्सर्ग प्रतिमा। पाँच मास तक स्नान का त्याग। रात्रि को चारों आहार का त्याग दिन में पूर्ण ब्रह्मचारी रात्रि में ब्रह्मचर्य की मर्यादा रखना। पौषध मे पूरी रात कायोत्सर्ग ध्यान मे रहना।

६. ब्रह्मचर्य प्रतिमा छः मास तक पूर्ण ब्रह्मचारी होना।

७. सचित्त त्याग पूर्व प्रतिमा सहित सात मास तक सचित्त का पूर्ण त्याग।

८. आरम्भ त्याग आठ महिने तक पूर्ण आरंभ त्याग।

९. प्रेष्य त्याग नव महिने तक दूसरे से भी आरंभ न कराना।

१०. उद्दिष्ट त्याग दस महिने तक अपने निमित्त बनाये हुए आहार ग्रहण का त्याग। छुरा से मुंडन करावें।

११. श्रमणभूत प्रतिमा पूर्वोक्त प्रतिमाओं का पालन करते हुए साधु की तरह सब का संग त्यागना, लोच करना, रजोहरण, पात्र वगैरह लेकर मुनि-वेष धारण कर अपने ही कुल से भिक्षा लेना। सारी प्रवृत्ति साधु की तरह करे।

०

समभाव की साधना : सामायिक

साधना-मार्ग में सामायिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मन मे समभाव की प्राप्ति के लिए सामायिक एक मात्र साधन है। सब जीवों पर सम भाव रखना, इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, अशुभ ध्यान (आर्त-रौद्र) का त्याग करना एव धर्म ध्यान का चिन्तन करना ही सामायिक है।

भगवती सूत्र मे कहा है कि :

आया खलु सामाइए, आया सामाइयस्स अट्ठे।

अर्थात आत्मा ही सामायिक हैं और आत्मा ही (आत्म स्वरूप की प्राप्ति) सामायिक का प्रयोजन है।

समता आत्म स्वरूप है और विषमता कर्मों का स्वरूप। यह भी कहा जा सकता है कि राग-द्वेष से रहित होकर आत्मा के स्वरूप में रमण करना सामायिक है। समभाव और विषम भाव की हम क्रमशः ९ और ८ के अंको से तुलना कर सकते हैं। ९ का अंक कितनी ही सख्या से गुणित होकर भी अन्ततः ९ ही रहता है जबकि ८ का अंक घटता बढता है :

८×३=२४ (२+४=६)
८×६=४८ (४+८=१२)
८×७=५६ (५+६=११)
९×७=६३ (६+३=९)
९×५=४५ (४+५=९)
९×२=१८ (१+८=९)

सामायिक : क्रिया एवं धर्म

सामायिक शब्द की रचना 'सम' और 'आय' इन दो पदों से हुई है। इसकी व्युत्पत्ति है समस्य आय. समायः स प्रयोजनम् यस्य तत् सामायिकम् अर्थात् वह अनुष्ठान जिसका प्रयोजन जीवन मे समता लाना है सामायिक है। सम अर्थात् राग द्वेष रहित मन.स्थिति और आय अर्थात् लाभ। अतः सम भाव की प्राप्ति हो वह क्रिया सामायिक है।

समायिक के दो भेद हैं :

१. द्रव्य सामायिक २. भाव सामायिक

बाह्य विधि-विधानों एवं साधनों को द्रव्य कहते हैं। आसन बिछाना, गृहस्थ-वेष के कपड़े उतारना माला फेरना आदि क्रियाएँ द्रव्य सामायिक है।

बाह्य दृष्टि का त्यागकर मन को अन्तर्दृष्टि द्वारा आत्म निरीक्षण मे लगाना, विषम भाव से समभाव मे स्थिर होना एव आत्म-स्वरूप मे रमण करना भाव सामायिक है।

द्रव्य भाव का साधन है अतः दोनों में सामजस्य स्थापित कर हमे आत्मा के विकास की ओर बढ़ना चाहिए। जब हम सामायिक क्रिया को ही धर्म मान लेते हैं और भाव शुद्धि नहीं करते तो द्रव्य सामायिक ही करते हैं। आत्म भाव मे स्थिर होकर समभाव की प्राप्ति का अभ्यास ही वस्तुतः शुद्ध सामायिक है। यही सामायिक मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख साधन है।

सामायिक की भूमिका

समायिक के लिए भूमिका स्वरूप चार प्रकार की शुद्धि आवश्यक है—द्रव्य शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि, काल शुद्धि एवं भाव शुद्धि। उक्त चार शुद्धियों सहित की गई सामायिक ही पूर्ण फलदायक है अन्यथा नही।

१. द्रव्यशुद्धि—सामायिक के उपकरण शुद्ध हो, सौन्दर्य वृद्धि के लिए न हो, जिनके उत्पादन (प्राप्ति) हेतु अधिक हिंसा न हुई हो और जिनसे

जीवों की यतना हो सके उसे द्रव्य शुद्धि कहते हैं। वस्त्र शुद्ध एवं सादे रखना आत्म ज्योति को जाग्रत करने वाली पुस्तकें पढना आदि द्रव्य शुद्धि के अंग हैं। मन में अच्छे विचार एवं सात्विक भाव स्फुरित करने के लिए द्रव्य शुद्धि आवश्यक है।

२. क्षेत्र शुद्धि वह स्थान जहां सामायिक करने को बैठें शुद्ध होना चाहिए। जहां कोलाहल हो विषय विकार उत्पन्न करने वाले शब्द सुनाई दे अथवा बच्चे खेल कूद कर रहे हों ऐसे स्थान पर बैठना उचित नहीं है। सारांश यह है कि स्थान एकान्त हो उपद्रव रहित हो और चंचलता उत्पन्न न करने वाली परिस्थितियाँ हो तो सामायिक सम्यक प्रकार से हो सकती है। आत्मा को उच्चदशा में पहुँचाने के लिए और अन्तर्हृदय में समभाव की पुष्टि के लिए क्षेत्र शुद्धि अत्यावश्यक है।

३. काल शुद्धि :—शुद्ध एवं निर्विघ्न सामायिक के लिए काल शुद्धि आवश्यक है। ऐसा समय जब मन में अशान्ति हो, संकल्प विकल्पों का ज्वार उठ रहा हो या पास ही कोई दुःखी या रुग्ण व्यक्ति हो तो समय का औचित्य नहीं होता।

४. भाव शुद्धि मन, वचन एवं शरीर की एकाग्रता एवं शुद्धि ही भावशुद्धि है जबतक चांचल्य बना रहे तबतक बाह्य विधि विधान एवं क्रिया से जीवन का उत्थान नहीं हो सकता। अत. मन का नियंत्रण कर वाणी को सम्यक् बनाकर कायिक आचार को शुद्ध करें तो भावशुद्धि की भूमिका पूर्ण होती है। इससे एक ऐसी स्थिति आती है कि सुख-दुःख, राग-द्वेष शोक भय मोह माया से हम ऊपर उठ जाते हैं और सभी जीवों को आत्म रूप मानकर समभाव प्राप्त करते हैं। हमें द्रव्य सामायिक से भाव सामायिक में प्रवेश कर आत्मा का सच्चा सुख प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।

—०

आत्मोत्थान का प्रशस्त पथ षडावश्यक

भव्यात्मा का चरम और परम लक्ष्य है मोक्ष और वह प्राप्त होता है संवर और निर्जरा के द्वारा। आश्रव बन्ध का हेतु है एवं संवर कर्म बन्ध को रोकने वाला तत्व है और निर्जरा पूर्वकृत कर्मों को आत्मासे दूर हटाने की प्रक्रिया है। जैन धर्म में नित्य और नियमित रूपसे जो कार्य साधु और श्रावक के करणीय होता है उसे आवश्यक* की संज्ञा दी गई है। ये आवश्यक कार्य हैं, इसलिए 'षडावश्यक' उनका सम्मिलित नाम है। संवर और निर्जरा दोनों तत्वों और मोक्ष मार्ग के प्रधान कारणों का षडावश्यक में समावेश या सम्मिलन हो जाता है। इसलिये इसका महत्व सर्वोपरि है।

षडावश्यक के नाम और भेद इसप्रकार हैं :

१. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव ३. वन्दना ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग एवं ६. प्रत्याख्यान। अब इनके स्वरूप और क्रमिकता पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है। जिससे इनकी उपयोगिता और महत्व स्वयं स्पष्ट हो जायेगा।

(१) सामायिक : जैन धर्म का सार तत्व है समभाव या वीतरागता। जैन धर्म का प्राचीन नाम श्रमण धर्म है। और उत्तराध्ययन सूत्रके अनुसार समता से ही श्रमण होता है 'समयाए समणो होई'। श्रमण के उपासक होने से श्रावकों का प्राचीन विशेषण श्रमणोपासक उपासकदशा सूत्र आदि में उल्लिखित है। समभाव या वीतरागता जो जैन उपासना

* प्रायः प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय में कुछ नित्य नियमित करने के कर्त्तव्य प्रार्थना, सन्ध्या, पूजादि बतलाये गये हैं इसी तरह जैन धर्म में ये छः कर्त्तव्य बतलाये हैं।

का प्रधान लक्ष्य है। उसको प्राप्त करने या जीवन मे उतारने की प्रक्रिया का नाम ही 'सामायिक' है। समभाव की जिससे आय अर्थात् प्राप्ति हो, उसी साधना-उपासना आराधना का नाम है 'सामायिक'। आत्मोत्थान की यह प्रथम और दृढ भूमिका है। अत अन्य सारे धार्मिक कार्यों मे इसे प्राथमिक और आवश्यक माना गया है। जैन आगमो के अनुसार तीर्थंकर भी जब गृह परिवार का त्याग करके सयम की दीक्षा ग्रहण करते हैं, तो सबसे पहले सामायिक का पाठ ही प्रतिज्ञा वाक्य के रूप मे उच्चारण करते हैं। इसीलिये पांच प्रकार के चारित्रों मे सामायिक चारित्र को प्रथम स्थान प्राप्त है। तीर्थंकर उच्चारित्त सामायिक का यह पाठ इस प्रकार है।

"करेमि सामाइयं, सावज्जं जोग पच्चक्खामि। जाव जीव पज्जुवासामि, तिविहं तिविहेण-मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करतंपि न समणुजाणामि। तस्स पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।"

उपरोक्त पाठ मे सामायिक करने और समस्त सावद्य योग के प्रत्याख्यान अर्थात् पापकर्मों के निषेध की प्रतिज्ञा की गई है। पाप कर्म मन वचन काया इन तीन योग और करने कराने और अनुमोदन करने रूप तीन कारणों द्वारा होता है। अतः उससे अलग या दूर रहने का विधान इस पाठ मे पाया जाता है। सावद्य योग का त्याग कर्म बन्ध को रोकने का (सवर) मार्ग है। प्रत्येक धार्मिक क्रिया मे आश्रव का निरोध सर्व प्रथम आवश्यक होता है। वही इस सामायिक के द्वारा किया जाता है। समभाव मे रहने से कर्मों का बंध नही होता और निर्जरा अर्थात् कर्मों से छुटकारा सहज संभव हो जाता है। अत. इसी प्रक्रिया द्वारा आत्मा मुक्ति पथ पर अग्रसर होने लगती है।

समभाव मे स्थित होकर जिन्होंने समत्व अर्थात् वीतरागता को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया है उन चोबीस तीर्थंकरों की भाव पूर्ण स्तुति

की जाती है। इसी का नाम चतुर्विंशति स्तव। सामायिक के पश्चात् इसे दूसरे आवश्यक की संज्ञा दी गई है। इसके द्वारा हमे उन तीर्थंकरों से वीतरागता की ओर अग्रसर होने की प्रबल प्रेरणा मिलती है। गुणीजनों का स्मरण उनकी स्तवना भक्ति आदि से हमारे मे गुणानुराग और गुणों के प्रति आकर्षण और लगाव बढ़ता है जिससे हमारे मे गुणो का विकास होकर हम स्वयं भी गुणी बन जाते हैं।

जैन धर्म मे सर्वोच्च स्थान तीर्थंकरो का है तीर्थं अर्थात धर्म या शासन तथा चतुर्विध सघ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर होते हैं। उस सर्वोच्च पद को प्राप्त करने वाले चोवीस तीर्थंकरों* का स्मरण एव गुणों की स्तुति करना साधक के लिए बहुत ही आवश्यक और प्रेरक है। इसीलिए सामायिक आवश्यक के बाद चतुर्विंशति स्तव को स्थान दिया गया है।

तीर्थंकर के बाद हमारे परम उपकारी गुरुजन है। आचार्य उपाध्याय और साधु उन गुरुओं को वन्दन नमस्कार करना हमारा आवश्यक कर्तव्य हो जाता है, क्योंकि वीतराग प्ररूपित धर्म हमे उन गुरुजनों के द्वारा ही प्राप्त होता है। गुरुजन समभाव की साधना में निरत और सलग्न होते है। अतः वे हमारे आदर्श होते हैं। उनके वंदन नमस्कार द्वारा हमें वीतरागता की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा मिलती है। वे हमारे मार्गदर्शक और श्रद्धानुप्रेरक होते हैं इसलिए तीर्थंकरों की स्तुति के बाद गुरु वंदन को तीसरा स्थान दिया गया है।

चौथा आवश्यक है प्रतिक्रमण। अपने उपकारी के प्रति कृतज्ञता दूसरे और तीसरे आवश्यक द्वारा प्रगटीकरण के बाद आत्मालोचन करने का सुअवसर प्राप्त होता है। अज्ञानता और असावधानी आवेश और चिर

*तीर्थंकर विद्यमान अवस्था म अर्हत् है पर अभी वे सिद्ध हो चुके हैं इसलिए इसमे समस्त अर्हतों और सिद्धों की सम्मिलित स्तुति का समावेश हो जाता है।

अभ्यास के कारण हम गलत मार्ग अपना लेते हैं। उससे वापिस मुड़कर सही मार्ग पर आजाने का नाम ही प्रतिक्रमण है। इसमे सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक जो भी पापकार्य हो गया हो उसे स्मरण कर उसके प्रति निन्दा और गर्हा द्वारा पश्चाताप प्रगट किया जाता है, उसे दैवसिक और रात के पापों या दोषों की आलोचना को रात्रि प्रतिक्रमण कहा जाता है। इसी प्रकार १५ दिनों के प्रतिक्रमण को पाक्षिक चार महीने को चातुर्मासिक और वर्ष भर के पापों के प्रति पश्चाताप प्रगट करने को सांवत्सरिक प्रतिक्रमण कहते हैं। इससे आत्मा विशुद्ध और निर्मल बनती है। प्रतिक्रमण चार कारणों से किया जाता है। (१) अकरणीय कार्यों को करने (२) करणीय कार्यों को नहीं करने (३) जिनवचन मे अश्रद्धा करने और (४) विपरीत मार्ग की प्ररूपणा। अर्थात् उत्सूत्र भाषण करने से इन चारों कारणों मे से कुछ न कुछ नित्य बन ही जाता है अतः प्रतिक्रमण नित्य नियमित करना आवश्यक हो जाता है।

प्रतिक्रमण के द्वारा आत्म-विशुद्धि करने के बाद कायोत्सर्ग अर्थात् देहाध्यास को छोड़कर आत्म-रमणता करने का जो विधान रखा है उसका नाम कायोत्सर्ग रखा गया है। यह बहुत ऊँची और अच्छी स्थिति है, जिसके पहले आत्मालोचन अर्थात् प्रतिक्रमण की क्रिया जरूरी होती है, इसीलिए कायोत्सर्ग को पांचवाँ स्थान दिया गया है। इससे समभाव की स्थिति दृढ़ होती है। मैं आत्मा हूँ शरीर नहीं हूँ इसकी पुष्टि कायोत्सर्ग द्वारा अधिकाधिक करके देहासक्ति का त्याग करते हुए आत्मरमणता करनी चाहिये।

छट्ठा और अंतिम आवश्यक है प्रत्याख्यान कायोत्सर्ग द्वारा आत्मा मे विवेक जागृत होकर दृढ़ता आती है तो नहीं करने योग्य कार्यों को नहीं करने और करने के योग्य कार्यों को करने रूप प्रतिज्ञा या संकल्प पूर्वक निश्चित किया जाना और दृढ़ता से मनोबल को बढ़ाना ही प्रत्याख्यान है। इससे भावी पापबन्ध को रोक दिया जाता है।

इस तरह ६ आवश्यकों के द्वारा आत्मोत्थान का पथ प्रशस्त होता है इसीलिए इन्हें नित्य और नियमित रूप से करने का विधान है। आगे चलकर अन्य गृहस्थ के अन्य ६ कार्य भी आवश्यक माने गये उनका सूचक यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है।

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानश्चेति गृहस्थानाम् षट्कर्माणि दिने दिने ॥

अर्थात् गृहस्थों के लिए देव पूजा गुरु सेवा स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये कार्य प्रतिदिन करणीय है।

:o:

श्रावक के २१ गुण

जैसे भाग्यहीन व्यक्ति चिंतामणिरत्न को पा नहीं सकता, वैसे ही गुणहीन व्यक्ति धर्म-रत्न को प्राप्त नहीं कर सकता। मनुष्य कई बार शिकायत करता है कि "धर्म करते है किन्तु शांति प्राप्त नहीं होती"। देखना है कि हम जो धर्म साधना करते हैं उसकी नींव गुणी-जीवन है या नहीं? यदि नहीं तो, धर्म चाहे कितना भी क्यों न करें, सच्ची शांति प्राप्त नही हो सकती। यदि सच्ची शांति पाना हो तो गुणों का अभ्यास कर धर्म-साधना की जाय।

यहाँ पर धार्मिक जीवन के लिये आवश्यक २१ गुण बताये गये हैं, जिसका अभ्यास कर धर्म-साधना के द्वारा साधक सच्चा आनन्द पा सकता है।

१. गम्भीरता। धार्मिक होने के लिये प्रथम शर्त है, गभीर होना। क्षुद्रता रखने से व्यक्ति न बुद्धिमान प्रतीत होता है न बुद्धिमान हीं बन सकता है। बुद्धिमान बने बिना धर्माराधना कैसे कर सकता है। कोई भी ऐसा कार्य न करो जिससे तुम्हारी क्षुद्रता प्रकट हो। क्षुद्र व्यक्ति धर्म को बदनाम करता है स्व और पर का कोई उपकार नहीं कर सकता।

२. सुन्दरता—धर्मात्मा व्यक्ति सुन्दर-स्वरूप होना चाहिये। सुन्दरता का अर्थ है पाँचों इन्द्रियों का पूर्ण होना। शरीर का सुगठित स्वस्थ होना। ऐसा व्यक्ति यदि अपने सौन्दर्य को धर्म के परिधान मे सवार ले तो दूसरों के दिल मे धर्म के प्रति सम्मान की भावना पैदा कर सकता है। कईओं को धर्म के प्रति आकृष्ट कर सकता है। जैसे अनाथी मुनि के सौन्दर्य को देखकर श्रेणिक महाराज धर्म की ओर अग्रसर हुए थे।

३. अक्रूरता। यदि तुम्हें सही रूप में धर्मात्मा एवं उच्चकोटि का व्यक्ति बनना है तो सदा सर्वदा तुम अपने वदन पर चन्द्र की शीतलता और सौम्यता बनी रहने दो। वह सौम्यता कृत्रिम नहीं किन्तु स्वाभाविक होनी चाहिये।

ऐसी सौम्यता चेहरे पर तभी आयेगी जबकि जीवन निर्दोष एव पाप रहित बनेगा। तुम्हारी सौम्य आकृति को देखकर अन्य आत्मायें तुम्हारे पास आयेगी, एव तुम्हारे ससर्ग मे सुख-शांति का अनुभव करेगी।

४. लोकप्रियता धर्मात्मा बनने के लिये लोकप्रिय बनना भी आवश्यक है। लोकों मे अप्रिय आत्मा प्रायः धर्म निन्दा का निमित्त बन जाती है। जबकि लोकप्रिय धर्मात्मा दूसरों को धर्म के प्रति श्रद्धालु बना देती है।

'लोकप्रियता' प्राप्त करने के लिये तुम्हें सदा दान, विनय, नम्रता शील सदाचार का पालन करना आवश्यक है। किसी भी तरह की कुप्रवृत्ति नहीं करना चाहिये। लोकों मे निन्दा हो ऐसे कार्य कभी न करे। सभी के प्रति स्नेह सद्भाव सहयोग की भावना रखो। इससे तुम सदा लोकप्रिय बने रह सकते हो।

५. सौम्यप्रकृति धार्मिकता के लिये प्रकृति का सौम्य एव शान्त होना अति आवश्यक है। क्रूर आत्मा कभी धर्म की निष्कलक आराधना नहीं कर सकती। क्रूरता का अर्थ है दूसरों के दोषों को अवगुणों को सतत देखना। बात बात मे उग्र हो जाना। प्रकृति को शांत रखने के लिये इन सब का त्याग करना होगा। तथा मैत्रीभाव, प्रमोद भाव, करुणाभाव एव तटस्थ दृष्टिकोण अपनाना होगा।

६. भवभीरुता भवभीरुता यानी पाप का डर। जैसे साँप को देखकर भय लगता है,....वैसे पाप से भय लगे। पापाचरण का दुष्परिणाम सतत् आँखों के सामने रहे। यह व्यक्ति के हृदय को पाप से बचाये रखता है। यदि ससार मे रहते हुए पाप करना भी पडे तो दुःखी हृदय से करता है।

७. सरलता जो जीव कपटी है, जिसका मन निर्मल नहीं है। वह कभी धर्म का अधिकारी नहीं बन सकता है उसके दिल में तो सदा ही छल-प्रपंच की लीला चलती है। वह हमेशा दूसरों को धोखा देने का प्लान घड़ता रहता है। कपट के कारण न तो स्वयं सुख-शांति का अनुभव कर सकता है न दूसरों को ही करने देता है। इसके विपरीत सरल-व्यक्ति. सबको विश्वासपात्र बनकर सच्चा आनन्द पा लेता है। सरल आत्मा अपनी आत्मा को सच्चे रूप में संतुष्ट कर सकता है।

८. सुदाक्षिण्य स्वयं दु.ख सहन करके भी दूसरों का उपकार करना 'सुदाक्षिण्य' है। इस गुण के कारण दूसरों का श्रद्धेय-मान्य बन जाता है। वह अपनी दाक्षिण्यता के कारण कईयों को अपना बनाकर धर्म-मार्ग में जोड़ सकता है।

९. लज्जा—लज्जा सभी गुणों की जननी है। लज्जायुक्त आत्मा छोटे से छोटा भी पाप करते हुए हिचकिचायेगी। बाजार में खड़े रहकर खाना, सिनेमा देखना, परस्त्री एवं परपुरुष के साथ मजाक करना आदि निर्लज्जता की प्रतीक है।

लज्जाप्रिय आदमी निन्दनीय बातों से स्वयं दूर रहता है। तथा दूसरों को भी वही शिक्षा देकर निन्दनीय कार्यों से बचा लेता है।

१०. जीवदया धर्म का मूल है। दूसरों को दुखी कर स्वय सुखी बनना, दूसरे को मार कर स्वयं जीवित रहना यह घोर अधर्म है, पाप है। जबतक हमारे अन्दर स्वय कष्ट सहकर दूसरे को सुखी बनाने की भावना नही आती, तब तक हम सही अर्थ मे धर्म के अधिकारी नहीं बन सकते। जहाँ दया नही, वहाँ दीक्षा नहीं, तप नहीं, ज्ञान नहीं, ध्यान नहीं। निर्दय व्यक्ति घोर असाता का बंधन करता है।

११. माध्यस्थ्य हमेशा अपनी दृष्टि को तटस्थ रखो। उसमे किसी प्रकार का कोई पक्षपात न हो। जो कुछ देखो, सुनो उसमें किसी प्रकार का राग द्वेष न रहे। जैसा हो, उसे वैसा ही देख लो, सुनलो। तभी तुम धर्म को समझ सकते हो।

तुम्हारी दृष्टि मे तटस्थता है तो समझ लो कि ज्ञानादि गुणों का तुम्हारे अन्दर विकास होता जायेगा। सारे दोष नष्ट हो जायेंगे।

१२. गुणानुराग हमेशा गुणानुरागी बनो। दूसरों के गुण ही देखो। गुण देखकर खुश हो। इससे तुम्हारे अन्दर भी गुण आयेंगे। क्योंकि जैसा देखोगे वैसा बनोगे। यदि तुम दूसरो के दोष ही दर्शन करते रहोगे तो देर सवेर तुम भी दोषी बन जाओगे। दूसरों मे जो गुण है और तुममे जो नहीं है तो उससे ईर्ष्या न करो बल्कि उसके गुणों की अनुमोदना करो।

जो निर्गुणी है, उसकी निन्दा भूलकर भी मत करो। यदि तुम निन्दा मे पड़ गये तो मन विकृत बन जायगा और विकृत मन मे धर्म का पुष्प कभी नहीं खिलेगा। अतः हमेशा गुणानुरागी बनो।

१३. सुन्दर कथा स्त्री कथा (पुरुष कथा स्त्री के लिये) देशकथा राज कथा और भोजन कथा मे पड़कर तुमने अपना विवेक रत्न खो दिया है। क्या हित है क्या अहित है? सबकुछ भूल गये हो। जो व्यक्ति विकथा मे पड़ जाता है, वह धर्म की आराधना नहीं कर सकता। अतः धर्म की आराधना करना हो तो सदा शुभ कथा व शुभ वार्तायें करो। जिससे मन पवित्र बना रहे।

१४. अच्छा परिवार यदि निर्विघ्न धर्माराधना करनी हो तो परिवार अनुकूल होना आवश्यक है। यदि तुम्हारे परिवार मे सहकार है तो तुम्हारी धर्मसाधना अच्छी तरह से हो सकती है। यदि परिवार वाले अच्छे हैं तो धर्मसाधना मे अंतराय नहीं करेंगे आराधना में आवश्यकतानुसार सहायता प्रदान करेंगे। साथ-साथ परिवार वाले भी यथाशक्ति धर्म की आराधना करेंगे।

इसके लिए परिवार वालों को समय समय पर स्नेह सद्भाव पूर्वक धर्म की प्रेरणा देना चाहिए। उनके साथ अच्छा वर्ताव करना चाहिये।

१५. वृद्धानुसारी वर्तन हमारी योग्यता-अयोग्यता का मूल्यांकन इस बात पर है कि हम किसका अनुसरण करते हैं। धर्म की सच्ची

योग्यता पाने के लिये हमे शिष्टमति सज्जनों का अनुकरण करना चाहिये वृद्ध का अर्थ यह नहीं है कि जिसका सर सफेद हो गया हो, उम्र बढ गई हो, किन्तु जो तप त्याग, आदि मे परिपक्व हो। वे ही सच्चे अर्थो मे वृद्ध है। "यौवनेऽपि मताः वृद्धा" जवानी मे भी कई व्यक्ति स्वभाव से वृद्ध होते हैं। ऐसे जो वृद्ध जन है, वे कभी अनुचित कार्य नही कर सकते। अत. उनका अनुसरण करने वाला जीव भी पाप प्रवृत्तियों से दूर रह सकता है। पापों से बच सकता है।

१६. विशेषज्ञता व्यक्ति मे यह योग्यता आनी आवश्यक है कि उसके लिए क्या हित है और क्या अहित है। यदि हिताहित का विवेक नहीं आया तो वह व्यक्ति जीवन मे अच्छे के बजाय बुरे को अच्छा समझ कर ग्रहण कर लेगा। अत. किसी चीज का या बात का क्या सार है और क्या असार है यह जानना आवश्यक है। इसके लिये तत्वज्ञानियों का सतत सग करना चाहिये।

१७. दूरदर्शिता—किसी भी कार्य को करने से पहिले यह सोचो कि इसका परिणाम क्या होगा और वही कार्य करो जो सुन्दर और अच्छा फल देने वाला हो। कोई भी काम करें किन्तु ऐसा काम करो कि जिसमे श्रम कम करना पड़े और लाभ अधिक हो। ऐसा व्यक्ति बिना विचार किये कभी कोई काम नहीं करेगा।

१८. विनय विनयमूलो धम्मो विनय यानी मन और तन की नम्रता यह धर्म का एवं सभी गुणों का मूल है, विनय से ही ज्ञान व चारित्र का प्रकाश प्राप्त होता है। विनय से हो हम किसी से कुछ प्राप्त कर सकते हैं। हमेशा यह सोचो कि मेरे से भी अधिक गुणवान् कई व्यक्ति है। यदि दूसरों से गुण पाना है तो विनय रखना आवश्यक है।

१९. दूसरे लोगों द्वारा किये गये उपकारों का सतत स्मरण रखना उनके प्रति उपकारी भाव रखना कृतज्ञता है। माता-पिता धर्म-गुरु-अध्यापक आदि उपकारियों के उपकारों की सदा स्मृति रखना चाहिये कि यह मेरे परम उपकारक हैं। इसमे भी धर्म-गुरुओं के उपकार तो

हमारे पर अनन्य कोटि के इहलोक और परलोक दोनों में सुख शान्ति देनेवाले हैं अतः उनके उपकारों का वास्तविक मूल्यांकन कर उनके प्रति श्रद्धा और सम्मान होना चाहिये। इससे उपकारी के प्रति कभी हीन भावना पैदा नहीं होगी। उनका अविनय करने का मौका ही नहीं मिलेगा।

२०. परहितनिरता दूसरो के हित की सदा चिन्ता करना तथा दूसरों का हित करने का प्रसंग उपस्थित हो तब तन मन धन को लगाने मे तत्पर रहना। परहित करने की प्रवृत्ति से अधिक कोई कल्याणकारी प्रवृत्ति नहीं होती। परहितचिंतक आत्मा निसन्देह दूसरे जीवों को सन्मार्ग पर प्रवृत्त कर सकता है।

परहित करने वाले को दो बातों की आवश्यकता होती है। १ निस्पृहता २ महान् सात्विकता। यदि व्यक्ति निस्पृह है तो वह दूसरों के हित की चिन्ता आसानी से कर सकेगा। साथ ही सात्विक है तो दूसरों के कष्ट को दूर करने के लिए जुट जायेगा।

२१ लब्धलक्ष्यता धार्मिक व्यक्ति अपने लक्ष्य को निर्धारण करने मे तथा उसे प्राप्त करने मे सदा जागरूक होना चाहिये। जिसने अपने लक्ष्य को निर्धारित कर लिया है वह व्यक्ति यदि कोई कार्य प्रारम्भ करे तो उसे अपूर्ण कभी नही छोड़ेगा। तथा कार्य करते हुए जबतक पूरा न हो जाय चैन से नहीं बैठेगा।

इसके लिये चित्त की एकाग्रता संकल्पों की दृढ़ता एव लक्ष्य को निर्धारित करने की क्षमता आवश्यक है।

ये गुण जिस आत्मा मे आ जाते हैं। वह आत्मा धर्म को प्राप्त कर स्व पर का कल्याण कर सकता है। अपने धार्मिक जीवन से दूसरों आकर्षितकर दूसरों को भी धर्म-प्रेमी बना सकता है।

—०

साधु-धर्म : साधु आचार

जीवन का स्वरूप बताते हुए एक आचार्य ने कहा है कि 'किं जीवनम्, ? दोष विवर्जितम् यत् ।

जीवन वही है, जो सर्व दोषों से रहित हो । पूर्ण स्वच्छता, निर्मलता, पवित्रता एवं उन्मुक्त आनन्द ही सच्चा जीवन है । एकदम विशुद्ध एवं निष्पाप जीवन साधु ही जी सकते हैं । जीवन जीना और पापरहित जीना ऐसा जीवन मात्र साधुपने मे ही जिया जा सकता है ।

ऐसा जीवन वही प्राप्त कर सकता है, जो जन्म-मरण, इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, आधि व्याधि उपाधि एवं कर्म की पराधीनता से एकदम ऊब गया हो, संसार से मुक्त होने की तीव्र इच्छा जग गई हो । उसे फिर गृहस्थ जीवन मे होनेवाले षटकाय जीवों का संहार एवं अन्य पापस्थानकों के सेवन से उसका मन बिल्कुल उद्विग्न हो उठता है और वह घर-बार कुटुम्ब-परिवार, धन-दौलत-आरम्भ-समारंभ सबको त्याग कर, योग्य सद्गुरु के चरणों मे जाकर दीक्षा ग्रहण कर लेता है ।

दीक्षा लेने के पश्चात् पाँचमहाव्रत, अष्ट प्रवचन माता, संयम एवं तप इच्छाकारादि दस प्रकार की समाचारी, दशविध यतिधर्म, पचाचार का निरन्तर पालन करता है । साधु का सम्पूर्ण जीवन, ज्ञान ध्यान एवं स्वाध्यायमय ही होता है । यही ही निष्पाप जीवन है साधु का । न किसी का मोह न माया ममता । निरन्तर विषय-विकारों को नष्ट करने की प्रवृत्ति होती है साधु की ।

साधु की दिनचर्या सामान्यतः रात्रि का अन्तिम प्रहर शुरु होते ही निद्रा त्याग पंचपरमेष्ठी भगवन्तों का स्मरण, आत्म-निरीक्षण तथा गुरु-

चरणों में नमस्कार। फिर कुस्वप्नादि की शुद्धि के लिये चार लोगस्स का कायोत्सर्ग करके, चैत्यवन्दन करके स्वाध्याय ध्यान करना। अन्त में प्रतिक्रमण करके वस्त्र, रजोहरणादि की प्रतिलेखना करना। फिर सूर्योदय के बाद प्रथम सूत्रपोरसी मे सूत्र का अध्ययन करना। छः घड़ी दिन पात्रादि की प्रतिलेखना कर मन्दिर दर्शन, चैत्यवन्दनादि कर अर्थ पोरिसी में सूत्रों के अर्थ का अध्ययन करना। अर्थ पोरिसी की समाप्ति होने पर गोचरी के लिए (अभिग्रह धारण करते हुए) गाँव में जाना। (गोचरी= जैसे गाय, ऊपर ऊपर का घास चर जाती है, किन्तु समूल उसको नहीं खाती, वैसे किसी को कष्ट पहुँचाये बिना गृहस्थ के स्वयं के लिये बनाये आहारादि मे से अति अल्प प्रमाण लेना जिससे गृहस्थ को भूखा भी न रहना पड़े न नया ही बनाना पडे) गोचरी के बयालीस दोषों को टालते हुए अनेकों घरों मे घूमकर भिक्षा ग्रहण करना। गोचरी लाकर गु० को दिखावे तथा गोचरी लेने की सारी विगत उनके सामने तथा गोचरी संबन्धी आलोचना करे। फिर पच्चक्खाण पार कर कुछ समय तक स्वाध्याय ध्यान आदि करे। आचार्य म० बाल, बीमार, तपस्वी, नव आगन्तुक मुनियों को गोचरी के लिये निमन्त्रित कर, उनकी भक्तिकर स्वय राग, द्वेषादि त्यागकर, आहार करना। फिर गाँव के बाहर स्थण्डिल (एकांत व निर्जीव भूमि) जाकर, तीसरे प्रहर के अन्त मे पुनः वस्त्र-पात्रादि की प्रतिलेखना कर चौथे प्रहर मे फिर स्वाध्याय शुरू कर दे। तत्पश्चात्, गुरुवंदन पच्चक्खाण कर, रात्रि मे लघु शंकादि के लिये जाना पड़े, उसके लिये दिन रहते ही जगह को देखकर प्रतिक्रमण करना। उसके बाद गुरु की उपासना, तत्त्वचर्चा आदि कर प्रथम प्रहर तक स्वाध्याय करके फिर संथारापोरिसी पढ़कर शयन करे।

(१) विनय साधु जीवन का प्राण है। साधु-जीवन सम्पूर्णरूप से गुरु-समर्पित होना चाहिये। अतः गु० को पूछे बिना कुछ भी न करें। (२) ज्ञानार्जन एवं स्वाध्याय के साथ-साथ आचार्य-वृद्ध-बालक-बीमार आदि की विनय भक्ति, सेवा-शुश्रूषा का पूरा पूरा खयाल रखे। (३) बालक सा

निश्छल हृदय रखें, ताकि कोई भी अपराध हो जाय तो बाल भाव से गुरु के समक्ष कहकर उसका प्रायश्चित लेवें। (४) यथाशक्ति विगयत्याग, अभिग्रह धारण पर्वों पर विशेष आराधना आदि करे। (५) साल में दो या तीन बार केश लोच करें। (६) चातुर्मास के अलावा शेषकाल में गाँव गाँव में भ्रमण करते हुए यथाशक्ति धर्म का प्रचार प्रसार करें। (७) सूत्र अर्थ का खूब खूब चिन्तन करें।। (८) परिग्रह एव विजातीय (साधु के लिये स्त्री और साध्वी के लिए पुरुष) का अति परिचय सर्वथा वर्जनीय है। (९) राज्यकथा, देशकथा, स्त्रीकथा एव भक्तकथा इन चारों विकथाओं का सर्वथा त्याग करें। (१०) इनके अतिरिक्त उन सभी बातों का त्याग करें जो सयमी जीवन को विरोधी है।

साधु को निम्न बातों का पूर्णरूप से पालन करना चाहिये।

१. पांच[1] महाव्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, एव अपरिग्रह।

२. अष्टप्रवचन माता[1] पाँचसमिति एव तीन गुप्ति मिलाकर अष्ट प्रवचन माता कहलाती है। जैसे माता बच्चे का लालन-पालन कर उसे बड़ा करती है। वैसे अष्ट प्रवचनमाता, सयमरूपी बालक को पापों से बचाती हुई पुष्ट, परिपुष्ट करती हुई बढ़ाती है। इसलिए 'माता' कहलाती है।

समिति[2]=उपयोग युक्त प्रवृत्ति, गुप्ति[2]=संयमन नियमन।

३. दशविध[2] यतिधर्म क्षमादि दशविधि यतिधर्मों का सतत पालन करना।

४. परिषह[2] कर्म निर्जरा के लिए आये हुए कष्टों का समता एव समाधि पूर्वक सहन करना।

५ तप[3] बारह प्रकार का तप।

१ इनका वर्णन देखिये गुरुतत्व पृष्ठ ४१,

२—सवरतत्व पृष्ठ ६२ मे,

३ निर्जरा-तत्व पृष्ठ ७०।

६ दश विध समाचारी

संयम के लिए उपयोगी आचरण को समाचारी कहते हैं। दैनिक जीवन में कदम-कदम पर इनका उपयोग पड़ता है।

१. इच्छाकार साधु अपना कार्य मुख्य रूपसे स्वय ही करें। परन्तु कारणवश दूसरे साधु के पास कराना पड़े तो पहिले करने वाले की इच्छा पूछे कि आपको सुविधा हो तो मेरा यह काम करेंगें।

२. मिथ्याकार कुछ भूल होजाय तो तुरन्त 'मिच्छामि-दुक्कड' कहे

३. तथाकार गुरु की आज्ञा, तहत्ति (तथास्तु) कह शिरोधार्य करें

४. आवश्यकी उपाश्रय से बाहर गोचरी आदि के लिये जाते समय 'आवस्सही' बोलकर निकले।

५. नैषेधिकी उपाश्रय आदि में प्रवेश करने समय 'निस्सीहि' कहकर प्रवेश करें।

६. पृच्छा कुछ भी कार्य करने से पहिले गुरु से सम्मति लें।

७. प्रतिपृच्छा फिर कार्य करते समय या उसके लिये बाहर जाते समय गुरु से पुनः पूछे। हो सकता है कि अब उस कार्य की आवश्यकता न रही हो। अथवा शास्त्र के विषय मे कोई सन्देह हो उसे पूछना पृच्छा है। बारबार उसविषय में पूछना प्रतिपृच्छा है।

८. छंदना गोचरी करने से पूर्व अन्य मुनियों-साध्वियों को गोचरी के लिये प्रार्थना करते हुए उनकी इच्छा जाने कि "मैं गोचरी लाया (लाई) हूँ, इसमे से कुछ लाभ देंगे ?"

९. निमंत्रणा गोचरी जाने से पहिले मुनियों-साध्वियों से पूछें कि आपके लिये मैं क्या लाऊँ ?"

१०. उपसंपदा तप, विनय श्रुत, आदि का विशेष लाभ के लिये अन्य सुयोग्य गुरु की निश्रा लेना। इनके अतिरिक्त पचाचारों को नित प्रति पालन करें।

साधु जीवन में जैसे अहिंसादि महाव्रतों का पालन निवृत्तिमार्ग है। वैसे ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति, रक्षा और वृद्धि के लिये पचाचार का पालन, यह प्रवृत्तिमार्ग है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार ये पाँच आचार हैं।

१. ज्ञानाचार आठ बातों का ध्यान रखते हुए सूत्रादि का अध्ययन करें। इसके आठ प्रकार हैं। (१) काल दो संध्या, मध्याह्न, मध्यरात्रि एव अस्वाध्याय काल को छोड़कर योग्य काल में पढ़ना।

२. विनय गुरु, ज्ञानी व ज्ञान के उपकरणों को विनयपूर्वक पढ़ना।

३. बहुमान गुरु आदि पर मनमें अत्यन्त मान रखना।

४. उपधान योगोद्वहन (तप विशेष) पूर्वक सूत्र पढ़ना।

५. अनिन्हव—ज्ञाना दाता गुरु व ज्ञान का अपलाप न करना।

६-७-८ व्यंजन अर्थ तदुभय —सूत्र के अक्षर पद आलापक। अर्थ=सूत्र का अर्थ, भावार्थ। तदुभय=सूत्र और अर्थ दोनों। इनको शुद्ध-स्पष्ट पढ़ना। अर्थ सही करना। सूत्र और अर्थ को योजना ठीक तरहसे करना।

२. दर्शनाचार यह भी आठ प्रकार का है।

१. निशंकित जिनवचन पर जरा भी शंका न करना।

२. निकांक्षित=मिथ्या धर्म के प्रति जरा सी आकर्षित न होना।

३. निर्विचिकित्सा=धर्मक्रिया के फल पर जरा भी सन्देह न रखना।

४. अमूढदृष्टि=मिथ्यादृष्टि के मन्त्र, तन्त्र चमत्कारादि को देखकर मुग्ध न होना। किन्तु यह सोचना कि जहाँ मूल धर्म ही नहीं है तो इन सब का क्या मूल्य हो सकता है?

५. उपबृंहणा—अन्य मे रहे हुए सम्यग्दर्शन आदि गुणों की प्रशंसा करना।

६. स्थिरीकरण धर्म में स्थिर व्यक्ति को तन मन धन से सहायता कर स्थिर करना।

७. वात्सल्य—स्वधर्मियों पर कुटुम्ब की तरह प्रेम रखना।

८. प्रभावना अन्य लोगों पर धर्म का विशेष प्रभाव पड़े ऐसे पुण्य कार्य करना।

३ चारित्राचार यह भी पांच समिति और तीन गुप्ति को मिलाने से आठ प्रकार का है।

४. तपाचार—इसके बारह प्रकार है।

५. वीर्याचार=ज्ञानाचारादि के पालन में तथा अन्य भी आवश्यक आदि क्रियाओं के करने में मन-वचन एवं काया की शक्ति को लेशमात्र भी न छिपाते हुए आत्मवीर्य को कार्यान्वित करना।

अनेकान्तवाद स्याद्वाद :

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। जैनधर्म में जो भी बात कही गई है, वह स्याद्वाद की कसौटी पर कसकर ही कही गई है। यही कारण है कि जैनदर्शन का दूसरा नाम दार्शनिक जगत् में अनेकांत दर्शन भी है।

अनेकांतवाद का अर्थ है प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना, देखना या कहना। अनेकांतवाद को यदि एक ही शब्द में समझाजाय तो वह 'अपेक्षावाद' है। 'आइन्स्टीन' की 'थ्योरी ओफ रिलेटीवीटी' (Theory of relativity) का अर्थ है 'अपेक्षा का सिद्धान्त' या 'सापेक्षतावाद'। 'अनेकांतवाद' का भी ठीक यही शाब्दिक अर्थ है। एक ही वस्तु में भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न-भिन्न धर्मों का कथन करने की पद्धति ही अनेकान्तवाद है। यही अपेक्षावाद, स्याद्वाद आदि नामो से कहा जाता है।

जैनदर्शन की मान्यता है कि—प्रत्येक-पदार्थ चाहे वह छोटा हो चाहे बड़ा अनन्त धर्मवाला होता है। धर्म का अर्थ है गुण....विशेषता। उदाहरण के लिये एक फल को ही लें फल में रूप भी है, रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है, फल का आकार भी है, भूख मिटाने की क्षमता भी है, स्वास्थ्य के लिए हानि या लाभ करने का गुण अवगुण भी फल में

है। और भी ज्ञात अज्ञात कई गुण है। हमारी सीमित बुद्धि द्वारा उन्हें नहीं जाना जा सकता। वस्तु के अनन्त धर्मों को केवलज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है। फिर भी हम कई धर्मों को तो जान ही सकते हैं।

अतः किसी भी पदार्थ को एक पहलू या एक धर्म के द्वारा पूर्णरूप से नहीं जाना जा सकता। एक धर्म के द्वारा पदार्थ को जानने का आग्रह रखना मिथ्या है। किन्तु पदार्थ मे रहे हुए विभिन्न धर्मो द्वारा उसे जानना चाहिये। यही स्याद्वाद है। जैसे एक व्यक्ति को कोई पिता कहता है....कोई भाई....कोई पुत्र, कोई चाचा, कोई मामा, कोई भतीजा कोई भानजा आदि....आदि। सब झगडते हैं यह तो पिता ही है, पुत्र ही है, भाई ही है, चाचा ही है, आदि। कैसे निर्णय किया जाय कि वास्तव मे यह आदमी क्या है? यहाँ स्याद्वाद ही सही निर्णय दे सकता है। वह पुत्र को कहता है कि भाई! तेरी अपेक्षा यह पिता भी है। क्योंकि तू इसका पुत्र हो। पिता को कहता है कि भाई! आपकी अपेक्षा यह पुत्र भी है क्योंकि आप इसके पिता हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षा से यह भाई चाचा, मामा, भतीजा, भानजा आदि सब है। एक ही आदमी मे अनेक धर्म है किन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षा से। यह नहीं कि पुत्र की अपेक्षा से ही पिता, भाई आदि हो। ऐसा नहीं हो सकता। यह पदार्थ विज्ञान के नियमों से विरुद्ध है।

तथा यह 'पिता ही है' यह कहना गलत है क्योंकि 'ही' अन्य धर्मों का निषेधक है। 'पिता ही है' इसका अर्थ है कि इसमे पितापन के अलावा और कुछ नहीं है। जबकि एक व्यक्ति मे अपेक्षाभेद से पुत्र, भाई आदि कई धर्म है। 'यह पिता भी' है यह कथन सही है। क्योंकि 'भी' अन्यधर्मों को भी अवकाश देता है। 'यह पिता भी है' इसका अर्थ है कि इस व्यक्ति मे पितापन भी है और दूसरे पुत्र आदि धर्म भी हैं। यह ही और 'भी' का अन्तर ही मिथ्यावाद और स्याद्वाद है। 'ही' मिथ्या-वाद है तो 'भी' स्याद्वाद।

'स्याद्वाद्' को समझने के लिए और भी कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जैसे कनिष्ठ अंगुली और अनामिका अंगुली को फैलाते हुए, किसी से पूछा जाय कि इन दोनों में बड़ी कौन है ? तुरन्त उत्तर मिलेगा कि अनामिका। किन्तु कनिष्ठा को समेट, मध्यमा को फैलाकर पुनः वही प्रश्न दोहराया जाय कि इन दोनों मे बड़ी कौन है ? तुरन्त जवाब मिलेगा कि 'मध्यमा'। क्या जादू है कि एक ही अनामिका बड़ी भी है और छोटी भी। यह मर्म अनेकान्तवाद ही समझा सकता है। हर एक चीज छोटी भी है और बड़ी भी। अपने से बड़ी चीजों की अपेक्षा छोटी है और अपने से छोटी चीजों की अपेक्षा बड़ी है अब अपेक्षावाद तुम्हारी समझ में अच्छी तरह आ गया होगा।

अनेकान्तवाद को समझने के लिए प्राचीन आचार्यों ने एक मजेदार हाथी का दृष्टान्त दिया है। एक गाँव में छः जन्मांध मित्र रहते थे। एक दिन वहाँ एक हाथी आया। गाँव वालों ने कभी हाथी नहीं देखा था। अतः गाँव मे बड़ी हलचल मच गई। अन्धों ने भी हाथी का आना सुना तो वे भी देखने दौड़े। नेत्रों के अभाव मे बिचारे देखते तो क्या ? हर एक ने हाथी को हाथ से टटोलना शुरू किया। किसी ने हाथी की पूछ पकड़ी तो किसी ने सूँड, किसी ने कान पकड़ा तो किसी ने दाँत। किसी ने पैर पकड़ा तो किसी ने पेट और हर एक ने मान लिया कि मैंने हाथी देख लिया है।

घर लौटते वक्त रास्ते मे हाथी के सम्बन्ध मे चर्चा छिड़ी तो पूछ पकड़ने वाले ने कहा भाई हाथी तो मोटे रस्से जैसा होता है। इतने में सूँड पकड़ने वाला अंधा बोला कि तुम बिल्कुल झूठ बोलते हो हाथी कहीं रस्से जैसा होता है ? हाथी तो मूसल जैसा है। बीच में ही टोकता तीसरा कान पकड़ने वाला अंधा बोला कि हाथी तुमने ही नहीं मैंने भी देखा है, वह तो ठीक छाजले जैसा है। इतने मे चौथा दांत पकड़नेवाला सूरदास बोला कि तुम सब गप्प मारते हो मैंने अच्छी तरह देखा है कि हाथी कुदाले जैसा है पाँचवाँ पैर पकड़नेवाला अंधा बोला अरे कुछ

भगवान का भी भय रखो। नाहक क्यों झूठ बोलते हो हाथी तो मोटे खंभे जैसा है। छट्ठा पेट पकड़ने वाला अंधा गरज कर बोला तुम सब झूठे हो हाथी को मैं भी देखकर आया हूँ। वह तो कोठी जैसा है कोठी। बस फिर क्या था। हाथी को लेकर आपस में झगड़ा शुरू हो ही गया। एक दूसरे को झूठा ठहराने लगे।

इतने मे एक सज्जन-पुरुष उधर से निकला और उसने अंधों से झगड़ने का कारण पूछा। सब ने अपना-अपना गीत गाया। सुनकर पहले तो उसे बड़ी हँसी आई किन्तु अन्त मे गम्भीर होकर उसने कहा 'बंधुओ! व्यर्थ में क्यों झगड़ते हो? जरा मेरी बात भी सुनो? तुम सब सच्चे भी हो और झूठे भी। तुम मे से किसीने भी हाथी को पूर्णरूप से नहीं देखा है। हाथी के एक एक अवयव को ही पूरा हाथी मानकर झगड़ रहे हो। कोई किसी को झूठा मत कहो किन्तु एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करो। हाथी पूँछ की दृष्टि से रस्सा जैसा भी है। सूँड की अपेक्षा मूसल जैसा भी है। कान की अपेक्षा छाजले जैसा भी है। दाँतो की अपेक्षा कुदाले जैसा, पैरों की अपेक्षा खंभे जैसा, पेट की अपेक्षा कोठी जैसा भी है। अतः अपेक्षा विशेष से तुम सभी सच्चे हो। किन्तु यह कहना कि हाथी रस्से जैसा ही है आदि-आदि गलत है। क्योंकि हाथी के पूंछ रस्से जैसी है, पूरा हाथी नहीं अतः तुम झूठे हो। इस प्रकार सही बात समझाकर उस सज्जन-पुरुष ने सब को शांत किया।

संसार मे जितने भी एकांतवादी धर्म और दर्शन है, वे पदार्थ के एक एक धर्म को ही पूरा पदार्थ मान लेते हैं। इसलिये आपस मे लड़ते झगड़ते हैं। वास्तव मे एक धर्म पूरा पदार्थ नहीं होता किन्तु पदार्थ का अंशमात्र होता है। एकांतवादी दर्शन अंधों के समान है। और 'स्याद्वाद दर्शन' आँखों वाले सज्जन पुरुष के समान है वह झगड़ने वाले धर्म-दर्शनों को सही बात समझाता है कि तुम्हारी मान्यता किसी एक दृष्टि से सही है, सब दृष्टि से नहीं। अपने एक अंश को सर्वथा सब अपेक्षा से ठीक बतलाना और दूसरे धर्मी अंशों की उपेक्षा करना....उन्हें गलत कहना,

बिल्कुल अनुचित है। स्याद्वाद इस प्रकार एकांतवादी दर्शनों की भूल बताकर पदार्थ के सत्य एवं पूर्णस्वरूप को सामने रखता है। और सम्प्रदायों के आपसी झगड़ों को शांत कर देता है।

स्याद्वाद केवल दार्शनिक क्षेत्र मे ही नहीं, किन्तु जीवन के हरक्षेत्र में उपयोगी है। यदि स्याद्वादी दृष्टिकोण को सही रूप मे अपना लिया जाय तो, परिवार, समाज, राष्ट्र एवं व्यक्तिगत सम्बंधो मे प्रेम एव सद्भावना का साम्राज्य स्थापित हो सकता है। कलह और संघर्ष तो एक दूसरे के दृष्टिकोण को न समझने के कारण ही है। स्याद्वाद इसको समझने मे मदद करता है।

यहाँ तक हमने स्थूल उदाहरणों के द्वारा स्याद्वाद को समझा, अब उसे दार्शनिक उदाहरणों एवं पद्धतियों से भी समझ लें।

पहिले नित्य और अनित्य के प्रश्न को ही ले लें। जैन धर्म कहता है कि प्रत्येक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। साधारण लोगों के लिये यह समस्या हो जाती है कि—जो नित्य है, वह अनित्य कैसे हो सकता है? और जो अनित्य है, वह नित्य कैसे हो सकता है? किन्तु अनेकांतवाद के द्वारा इसे सरलता से सुलझायी जा सकती है।

प्रत्येक-पदार्थ का एक मूल रूप होता है और दूसरा पर्यायरूप (आकार विशेष)। उदाहरणार्थ घड़े को ही लें। घड़ा मिट्टी से भिन्न स्वतंत्र कोई द्रव्य नहीं है। बल्कि मिट्टी का ही एक आकार विशेष है। किन्तु यह आकार विशेष मिट्टी से सर्वथा भिन्न नहीं है। उसी का एक रूप है। क्योंकि भिन्न-भिन्न आकारों मे परिवर्तित मिट्टी ही जब घड़ा, सिकोरा, सुराही आदि भिन्न भिन्न नामों से सम्बोधित होती है तो उस स्थिति मे आकार मिट्टी से सर्वथा भिन्न कैसे हो सकते हैं? इससे स्पष्ट है कि मिट्टी और घड़े का आकार दोनों ही घड़े के अपने रूप हैं। अब देखना है कि इन दोनों रूपों मे विनाशी रूप कौन सा है? और ध्रुवरूप कौन सा है? घड़े का आकार-स्वरूप विनाशी है, क्योंकि वह बनता बिगड़ता है। घड़ा बनने से पहिले वह नहीं था, बाद मे भी नहीं रहेगा।

जैन परिभाषा के अनुसार ये आकार विशेष पर्याय कहलाते हैं। किन्तु घड़े का जो दूसरा स्वरूप मिट्टी है, वह अविनाशी है। क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता। घड़े के बनने से पहिले भी वह मौजूद थी, घड़े के बनने पर भी वह मौजूद है और घड़े के नष्ट हो जाने पर भी वह मौजूद रहेगी। मिट्टी अपने आप में स्थायी तत्त्व है। यह न बनती न बिगड़ती है। वस्तु का यह मूलरूप द्रव्य कहलाता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि घड़े का एक रूप विनाशी है, और दूसरा रूप अविनाशी है। एकरूप नष्ट हो जाता है, दूसरा सदा सर्वदा बना रहता है। अतः हम घड़े के लिये यह कह सकते हैं कि 'घड़ा' अपने आकार की दृष्टि से, विनाशी रूप से अनित्य है और अपने मूल मिट्टी के रूप से, अविनाशी रूप से नित्य है। जैनदर्शन की भाषा के अनुसार कहें तो यों कह सकते हैं कि घड़ा अपने पर्याय की दृष्टि से अनित्य है, और द्रव्य की दृष्टि से नित्य है। इसप्रकार एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी नित्य और अनित्यधर्म स्याद्वाद के द्वारा ही समन्वित हो सकते हैं।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य :

नित्य अनित्य के साथ जगत् के सभी पदार्थ, उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता (ध्रौव्य) इन तीन धर्मों से युक्त हैं। एक ही पदार्थ में एक साथ ये तीनों विरोधी धर्म कैसे रह सकते हैं? इसको समझने के लिये एक उदाहरण देखें। किसी के पास एक सोने का हार है, उसने उसे तुड़वाकर कंगन बना लिया। इससे स्पष्ट है कि हार का नाश होकर कंगन की उत्पत्ति हो गई। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि हार बिल्कुल नष्ट हो गया और कंगन बिल्कुल ही नया बन गया। क्योंकि हार और कंगन में जो सोने के रूप में मूलतत्त्व है वह तो ज्यों का त्यों विद्यमान है। विनाश और उत्पत्ति तो आकार की हुई है। हार के आकार का नाश हुआ है, और कंगन के आकार की उत्पत्ति हुई है। इस उदाहरण से सोने

में हार के आकार का नाश, कंगन के आकार की उत्पत्ति और सोने की स्थिति ये तीनों धर्म स्पष्टरूप से सिद्ध हो जाते हैं।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में उत्पत्ति, स्थिति और विनाश इन तीनों धर्मों की स्थिति है। जब कोई पदार्थ नष्ट होता है तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि उसका मूल तत्व ही नष्ट होगया है। जब किसी पदार्थ की उत्पत्ति होती है तो इसका यह अर्थ नहीं कि वह एकदम नया ही उत्पन्न हो गया हो। उत्पत्ति और विनाश तो स्थूल आकार के होते हैं। आधुनिक पदार्थ-विज्ञान का भी यही नियम है कि किसी भी वस्तु का अपने मूलरूप से नाश नहीं होता, रूपान्तर अवश्य होता है। जैसे अत्यधिक गर्मी और सूर्य के ताप से पानी सूख कर भाप या गैस बनजाता है, किन्तु नष्ट नहीं होता। रूपान्तर हो जाता है। उसे नष्ट मानना गलत है। किसी न किसी रूप में रहता ही है।

उत्पत्ति, स्थिति और विनाश इन तीनो गुणों में से जो मूल वस्तु सदा स्थित रहती है, उसे जैनदर्शन में द्रव्य कहते हैं। और जो आकार बदलता रहता है उसे पर्याय कहते हैं। हार से कंगन बनने वाले उदाहरण में सोना द्रव्य है हार और कंगन पर्याय है। द्रव्य की अपेक्षा प्रत्येक पदार्थ नित्य है। और पर्याय की अपेक्षा प्रत्येक पदार्थ अनित्य है। इस प्रकार कोई भी पदार्थ न एकान्त नित्य है न एकान्त अनित्य है। किन्तु नित्यानित्य है यह मानना ही अनेकान्तवाद है।

यही बात सत् और असत् के सबन्ध में है। कोई वस्तु को सर्वथा सत् मानता है। तो कोई वस्तु को सर्वथा असत् ही मानता है। किन्तु अनेकान्तवाद कहता है कि प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी है। कोई पदार्थ है भी और नहीं भी। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से है और परस्वरूप से नहीं है अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता में पितापन सत् है। किन्तु दूसरों के पुत्र की अपेक्षा से पिता में पितापना असत् है। यदि पर पुत्र की अपेक्षा से भी वह पिता ही हो तो वह सारे ससार का पिता हो जायगा। मिट्टी का घड़ा मिट्टी घड़े के रूप में ही सत् है। सोने के घड़े के

रूप में नहीं। घड़े की दृष्टि से सब घड़े हैं। अतः सत् है। किन्तु प्रत्येक घड़ा अपने गुण धर्मों की अपेक्षा दूसरे घड़े से भिन्न है। अतः प्रत्येक घड़ा अपने गुणधर्म की अपेक्षा ही सत् है। पर गुण एवं पर धर्म की अपेक्षा नहीं। हम देखते हैं कि अनेक घड़ों मे से व्यक्ति इच्छित घड़े को उठाना चाहता है। और यदि अकस्मात् यदि दूसरा घड़ा हाथ मे आ जाय तो पहिचानने के बाद तुरन्त वापस रख देता है कि यह घड़ा मेरा नहीं है। यहां नहीं शब्द क्या है? असत् का ही सूचक है। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व अपने द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव की सीमा मे ही होता है। सीमा से बाहर नहीं। यदि हर एक वस्तु हरएक वस्तु के रूप मे सत् हो जाय तो फिर ससार मे कोई व्यवस्था ही न रहे। दूध-दूध के रूप मे भी सत् हो, दही के रूप मे भी सत् हो, छाछ के रूप मे भी सत् हो और पानी के रूप मे भी सत् हो तब तो दूध के बदले दही छाछ, पानी भी लिया, दिया जा सकता है। अतः मानना ही होगा कि प्रत्येक पदार्थ स्वरूप से सत् और पर रूप से असत् है।

स्याद्वाद का सिद्धान्त एक अमर देन है। स्याद्वाद सिद्धान्त एक न्यायाधीश की तरह है। जो विविध एकांगी सिद्धांतों के बीच समन्वय कर साम्प्रदायिक सघर्षों को दूर करता है। मानव व्यवहार मे एक दूसरे की परिस्थिति एव वातावरण को समझने की बात कहता है। जीवन के अधिकांश झगड़े एक दूसरे की बात को परिस्थिति को न समझने के कारण ही है। स्याद्वाद, दार्शनिक क्षेत्र मे, तथा मानव व्यवहारों मे प्रेम, सद्भावना उदारता, सहिष्णुता एवं सत्यनिष्ठा को प्रतिष्ठित करता है। यदि समाजिक, राष्ट्रीय धार्मिक तथा व्यवहारिक धरातल पर शान्ति लाना है तो 'स्याद्वाद' ही सही उपाय है।

o

चार भावनायें

पूर्वोक्त बारह भावनायें जीवन मे वैराग्य की ज्योति जलाने मे सहायक होती है। संसार के प्रति उदासीन बनाती है। किन्तु धर्म भावना को जोड़ने के लिये मैत्री आदि भावनायें महत्वपूर्ण है। जैन धर्म में इस दृष्टि मे इन चार भावनाओं की विशेष चर्चा है।

"सत्त्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्व।
माध्यस्थभाव विपरीतवृतौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव।"

१ सत्त्वेषु-मैत्री—मैत्री भावना मन की वृत्तियों का बहुत ही उदात्त रूप है। प्रत्येक प्राणी के साथ मैत्री की कल्पना ही नहीं, अपितु उसकी सच्ची अनुभूति करना, उसके प्रति एकात्म भाव स्थापित करना, वास्तव मे चैतन्य की एक विराट अनुभूति है। यदि मैत्री भाव का पूर्ण विकास हो जाय तो आज की जितनी समस्यायें है वे सब निर्मूल हो सकती है। चोरी, लूट-पाट, कलह, द्वेष, हिंसा, प्रतिशोध सभी एक इसी भावना से समाप्त हो सकते हैं। जब अपने ही समान सब है तो झगड़ा-टंटा किस बात का ?

२. गुणिषु प्रमोदं : गुणो के प्रति प्रमोद! किसी की अच्छी बात देखकर उसकी विशेषता और गुण देखकर कभी कभी हमारे मन मे आनन्द की एक लहर सी उठती है बस, यह आनन्द एवं लहर की भावना ही प्रमोद भावना है।

मनुष्य की सबसे बड़ी दुर्बलता है कि वह दूसरों की बुराई में बहुत रस लेता है। दूसरों का उत्कर्ष देखता है, तो जल उठता है। पड़ोसी को सुखी देखता है, तो स्वयं बेचैन हो जाता है। मनुष्य का मन दूसरों के प्रति जब देखो तब ईर्ष्या डाह प्रतिस्पर्धा में जलता रहता है। ईर्ष्या आज आम बीमारी बन गई है इसका सही इलाज है प्रमोद भावना का अभ्यास। जहाँ कहीं भी गुण हैं, विशेषता हैं, हम उसका सही मूल्यांकन करें और गुण का आदर करें।

मैत्री एवं प्रमोद भावना का विकास, मन में प्रसन्नता, निर्भयता एवं आनंद का संचार करता है।

३. करुणा : करुणा मन की कोमलवृत्ति है, दुःखी, पीड़ित, प्राणी के प्रति स्वाभाविक अनुकम्पा, मानवीय संवेदना जग उठती है, और हम उसकी सहायता के लिये हाथ आगे बढ़ा देते हैं। अहिंसा, सेवा, सहयोग, विनम्रता आदि हजारों इसके रूप है। दूसरों के दु.ख को देखकर हृदय में बेचैनी पैदा हो जाना और उसके दु ख को दूर करने के लिये यथाशक्य जुट जाना, करुणा का प्रभाव है।

४. माध्यस्थ्य वृत्ति यह मन की एक तटस्थ स्थिति है। पापी और अपराधी के प्रति यह वृत्ति रखना चाहिये। असफलता की स्थिति में मनुष्य का उत्साह निराशा में न बदले अत: यह वृत्ति आवश्यक है। दुष्ट की दुष्टता से मन खिन्न न हो उत्पीड़ित न हो, इसके लिये मध्यस्थ-भावना का अभ्यास आवश्यक है।

ये चारों भावनायें-पारिस्परिक संबन्धों में व्यक्ति को राग-द्वेष के विकल्पों से बचाती है। मन में कभी भी क्षोभ उत्पन्न नहीं होने देती।

शिवमस्तु सर्व जगतः

परहित-निरता भवन्तु भूतगणाः।

दोषाः प्रयान्तु नाशं,

सर्वत्र-सुखी भवतु लोकः॥